श्रीरूप - शिक्षा

प्रकाशन-तिथि
श्रीराधाष्टमी विक्रम संवत् २०२६, गौराब्द ४८३,
बङ्गाब्द १३७६, शकाब्द १८९१ ईस्वी सन् १९६९

श्रीरूप गोस्वामी

विषय-सूची

प्रकाशकीय निवेदन

श्रीरूपगोस्वामीका वंश-सहित संक्षिप्त परिचय श्रीचैतन्य-चरितामृतके टीकाकार श्रीराधागोविंदनाथने श्रीचैतन्य-चरितामृतके परिशिष्ट भागमें दिया है, उसका हिंदी अनुवाद पाठकोंकी जानकारीके लिये इसमें संलग्न है।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीवृन्दावन-यात्रासे लौटते समय जब प्रयागमें विराज रहे थे, उसी समय श्रीरूपगोस्वामी उनके चरणाश्रित हुए। वहाँपर उनको महाप्रभुजीने जो शिक्षा दी, वह श्रीकृष्णदासगोस्वामी-विरचित बँगलाके ग्रन्थ श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृतके मध्यखण्डके १९ वें परिच्छेदमें वर्णित है। इसकी बहुत सुन्दर और विस्तृत टीका श्रीराधागोविन्दनाथने लिखी है। ये वर्तमान कालके विशिष्ट वैष्णव एवं वैष्णव भक्ति-शास्त्रके अद्वितीय विद्वान् हैं। किसी महान् संतकी प्रेरणासे इसका हिंदी अनुवाद हुआ। किंतु प्रमादके कारण प्रकाशनमें बहुत विलम्ब हो गया, इसके लिये हम उन संतके चरणोंमें क्षमा-प्रार्थना करते हुए, हिंदी पाठकोंसे भी उनकी सेवामें यह अद्भुत वस्तु विलम्बसे प्रस्तुत करनेके लिये क्षमा-याचना करते हैं।

ग्रन्थमें मूल बँगला पयार भी मोटे टाइपमें दिये गये हैं। उनकी संख्या १२३ से आरम्भ होती है। उसी परिच्छेदके इसके पूर्वके पयार छन्द विषयसे सम्बन्धित नहीं होनेसे छोड़ दिये गये हैं। पयारोंकी संख्या मूलग्रन्थके अनुसार इसलिये रखी गयी है कि कोई हिंदी पाठक बँगला जानते हों और मूलग्रन्थको भी साथ-साथ देखना चाहें तो उनको सुगमता हो।

बँगलाके मूल पयार छन्दोंका हिंदी पद्यानुवाद भी उन्हीं संतकी प्रेरणासे, जिनकी प्रेरणासे यह टीका-अनुवाद हुआ है, किसी भक्तने करके दिया है, जो अमानी होनेके कारण अपना नाम प्रकाशमें लानेकी अनुमति नहीं देते। उनका आभार मानना भी उनको रुचिकर न हो, इससे यह कहते भी डर लगता है। यह

हिंदी पद्यानुवाद मूलग्रन्थके प्रत्येक पयार छन्दके साथ-साथ मोटे टाइपमें दिया गया है। आशा है पाठक इस हिंदी पद्यानुवादको भी रसमय पायेंगे।

मूलग्रन्थमें पयारोंके बीचमें श्रीचैतन्य-चरितामृतके रचयिताने जो अन्य भक्ति-ग्रन्थोंके श्लोक प्रमाणमें उद्‌धृत किये हैं, वे श्लोक भी मोटे टाइपमें दे दिये गये हैं, जिससे पाठकोंको पहचाननेमें सुविधा रहे।

टीकाकारकी टीकाके अंशको तथा उसके बीच उद्‌धृत प्रमाणोंको छोटे टाइपमें दिया गया है, जिससे सरलतासे पता लग जाय कि कौन-सा अंश मूलग्रन्थका है और कौन-सा टीकाका।

कई श्लोकोंकी या अन्य प्रमाणोंकी व्याख्या मूलग्रन्थमें पहले आ चुकी है, उसको टीकाकारने अन्यत्र दुबारा न देकर पूर्वस्थानका संकेत कर दिया है। उस व्याख्याको सांकेतिक स्थानसे अनुवाद करके इसी ग्रन्थमें यथास्थान रख दिया गया है। मूलग्रन्थके साथ जब इस ग्रन्थको पढ़ा जाय तो इस बातका ध्यान रखना चाहिये, जिससे किसी प्रकारका भ्रम न हो कि यह वस्तु कहाँसे आयी।

कई जगह 'भूमिकामें अमुक प्रबन्ध द्रष्टव्य' वाक्य मिलेंगे। वहाँ भूमिकासे तात्पर्य है टीकाकारद्वारा बंगाक्षरोंमें लिखित ग्रन्थकी भूमिकासे, जिसका एक बृहत् स्वतन्त्र खण्ड अलगसे प्रकाशित हुआ है।

श्रीमन्महाप्रभुने स्वयं कोई विशेष रचना नहीं की। श्रीसनातनगोस्वामी एवं श्रीरूपगोस्वामीको शिक्षा देकर उनमें शक्ति संचारितकर, उन्हें व्रजमें भेजकर उनके माध्यमसे ही भक्ति-शास्त्रके ग्रन्थोंका प्रणयन कराया और उनके द्वारा व्रजके लुप्त तीर्थोंका उद्धार कराया। श्रीसनातनगोस्वामीको दी गयी शिक्षाका भी अनुवाद हो रहा है। आशा है, वह भी शीघ्र ही पाठकोंके सम्मुख रखा जा सके।

आशा है, हिंदी-भाषाभाषी भक्त वैष्णव इसके अध्ययनसे लाभान्वित होंगे।

ग्रन्थके मुद्रणमें प्रमादवश, प्रूफ देखनेकी अनिपुणताके कारण तथा मुद्रणके समय कोई टाइप टूट जानेसे सम्भव है, जहाँ-तहाँ अशुद्धियाँ रह गयी हों। उनके लिये पाठकोंसे हम क्षमा-याचना करते हैं। अनुवादमें भी बँगला भाषाका पूर्ण ज्ञान न होनेसे तथा विषयकी गहनताके कारण कोई भूल रहनी सम्भव है। विज्ञ

पाठकोंसे प्रार्थना है कि ऐसी भूलोंकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर दें, जिससे अगले संस्करणमें उन्हें सुधारनेकी चेष्टा की जाय ।

श्रीराधामाधवकी कृपा हम सबपर नित्य सतत बरसती रहे ।

श्रीराधामाधवार्पणमस्तु ।

श्रीकृष्ण-निकेतन,
रेलवे सर्कुलर रोड
गोरखपुर

भक्तदासानुदास
मंत्री
श्रीराधामाधव-सेवा-संस्थान

संकेतोंका भाव

भूमिका—मूल टीकाकारद्वारा विरचित "श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत" ग्रन्थका भूमिका ग्रन्थ ।

श्री म० भा०—श्रीमद्भागवत महापुराण ।

चै० च०—श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत ।

आ—आदिलीला
म—मध्यलीला
अं—अन्त्यलीला

(इनके आगे प्रथम अङ्क परिच्छेदका है और द्वितीय अङ्क पयार-संख्या या श्लोक-संख्याका है।)

भ० र० सि०—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु

ह० भ० वि०—श्रीहरिभक्ति-विलास

गी०—श्रीमद्भगवद्गीता

उ० नी० स्था—उज्जवलनीलमणि, स्थायी भाव

श्रीरूपगोस्वामीका संक्षिप्त परिचय

इनका कुल भरद्वाज-गोत्रीय यजुर्वेदी ब्राह्मण-वंश है। श्रीसर्वज्ञ नामके कर्णाटकके एक प्रबल पराक्रमी राजा थे। चारों वेदोंमें उनकी विशेष व्युत्पत्ति थी। चारों वेदोंके अध्ययनमें वे विशेष पारदर्शी थे। कर्णाटक देशके जनसाधारणके बीच, विशेष करके ब्राह्मण-समाजमें वे विशेष पूज्य एवं सम्मानके पात्र होनेके कारण, वे 'जगद्गुरु' नामसे विख्यात हुए। श्रीसर्वज्ञ जगद्गुरुके पुत्रका नाम अनिरुद्ध था, ये भी वेदज्ञ थे। श्रीअनिरुद्धके दो पुत्र थे—रूपेश्वर और हरिहर। ज्येष्ठ रूपेश्वरने अनेक शास्त्रोंमें विशेष पाण्डित्य प्राप्त किया था। कनिष्ठ हरिहर शस्त्रविद्यामें पारंगत थे। दोनों पुत्रोंमें अपना राज्य विभक्त करके अनिरुद्ध श्रीकृष्णधामको प्राप्त हुए। कुछ दिनों बाद अनुज हरिहरने ज्येष्ठ रूपेश्वरको राज्यभ्रष्ट करके स्वयं समस्त राज्यपर अधिकार कर लिया। रूपेश्वर निरुपाय होकर आठ अश्व और पत्नीको लेकर पौरस्त्य देशमें भाग गये एवं वहाँके राजा शिखरेश्वरके साथ मैत्री करके वहीं रहने लगे। यहाँ उनके पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था पद्मनाभ। ये पद्मनाभ साङ्ग यजुर्वेदमें, सभी उपनिषदोंमें एवं रसशास्त्रोंमें विशेष पारदर्शी हुए। श्रीश्रीजगन्नाथमें उनकी प्रगाढ़ भक्ति थी। शेष वयस्में गङ्गासेवन करनेके उद्देश्यसे, शिखरेश्वरका राज्य छोड़कर गङ्गातट-निकटवर्ती नवहट्ट (कालनाके निकट नैहाटी) ग्राममें आकर रहने लगे। यहाँ राजा दनुजमर्दनका सौहार्द प्राप्त करके, वे सुखस्वच्छन्दतापूर्वक वास करने लगे। यहाँपर भी वे आडम्बरसहित श्रीजगन्नाथकी सेवा किया करते। पद्मनाभके अठारह कन्याएँ एवं पाँच पुत्र थे। पाँच पुत्रोंमें पुरुषोत्तम सबसे बड़े थे; उनके बाद जगन्नाथ, नारायण, मुरारि और मुकुन्द। मुकुन्दके पुत्र थे कुमारदेव।

कुमारदेव अत्यन्त शुद्धाचारी ब्राह्मण थे। ये सर्वदा ब्राह्मणोचित कार्यादिमें ही निष्ठाके साथ व्यस्त रहते। आचारहीन व्यक्तिके स्पर्शके डरसे प्रायः एकान्तमें

रहा करते थे। विधर्मीका स्पर्श होनेपर प्रायश्चित किये बिना ये जलबिन्दु भी ग्रहण नहीं करते। किसी कारणसे कुमारदेव नैहाटीसे वाकला चन्द्रद्वीपमें जाकर रहने लगे थे। यशोहरके अन्तर्गत फतेयाबादमें भी उनका एक घर था। कुमार-देवके अनेक संतानें थीं। उनमें श्रीसनातन, श्रीरूप एवं श्रीअनुपम—ये तीन ही वैष्णवश्रेष्ठ होनेके कारण विशेष प्रसिद्ध हुए। श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार कुमारदेवके एक कन्या भी थी, जिनके पतिका नाम था श्रीकान्त। ये श्रीकान्त गौडेश्वरके अश्व खरीदनेके लिये हाजीपुरमें रहा करते थे। किसी-किसीका कहना है कि श्रीसनातनका पितृदत्त नाम था अमर, श्रीरूपका पितृदत्त नाम था संतोष एवं श्रीअनुपमका पितृदत्त नाम था वल्लभ। ये तीनों ही गौडेश्वर हुसेनशाहके अधीन उनका राज्यकार्य देखा करते थे। गौडेश्वरद्वारा प्रदत्त पदानुसारी नाम इनके क्रमशः साकर मल्लिक, दबीरखास एवं अनुपम मल्लिक थे। रामकेलि ग्राममें सर्वप्रथम जब साकर मल्लिक एवं दबीरखासका श्रीचैतन्यमहाप्रभुके साथ साक्षात्कार हुआ, तब उन्होंने इनका नाम रखा सनातन और रूप।

उपर्युक्त वंश-परिचयसे जाना जाता है कि कर्णाटकराज श्रीसर्वज्ञके पुत्र अनिरुद्ध, अनिरुद्धके पुत्र रूपेश्वर, रूपेश्वरके पुत्र पद्मनाभ, पद्मनाभके पुत्र मुकुन्द, मुकुन्दके पुत्र कुमारदेव, कुमारदेवके द्वितीय पुत्र श्रीरूप। इस प्रकार देखनेमें आता है कि श्रीरूपके ऊर्ध्वतन सप्तम एवं षष्ठ पुरुष कर्णाटकके राजा थे।

रामकेलिमें महाप्रभुके प्रथम दर्शन करनेके उपरान्त श्रीरूपने श्रीचैतन्यचरण-प्राप्तिके उद्देश्यसे कृष्णमन्त्रका पुरश्चरण किया। उसके बाद अपनी अस्थावर सम्पत्ति लेकर नौकाद्वारा अपने कनिष्ठ सहोदर अनुपमके साथ पितृगृह वाकला चन्द्रद्वीप आये। महाप्रभुका नीलाचलसे वृन्दावन जानेका संवाद पाकर प्रभुसे मिलनेके लिये अनुपमसहित इन्होंने गृहत्याग किया। प्रभुके वृन्दावनसे लौटते समय प्रयागमें इनका उनसे मिलना हुआ। ये भी प्रभुके साथ अड़ेल ग्राममें श्रीवल्लभाचार्यजीके यहाँ गये थे।

प्रयागमें महाप्रभुने दस दिन पर्यन्त नाना-विषयक तत्व-शिक्षा देकर भक्ति-ग्रन्थ-प्रणयनके उद्देश्यसे उनमें शक्ति-संचार करके उनको वृन्दावन जाकर लुप्त तीर्थोंका उद्धार करनेका आदेश दिया। तदनुसार श्रीरूप वृन्दावन चले गये और

वहाँ सुबुद्धिरामके साथ वन-भ्रमण किया करते। लगभग एक महीना वृन्दावन रहकर, नीलाचलमें प्रभुके साथ मिलनेकी आशासे अनुपमके सहित वृन्दावन छोड़कर चले। गौडदेशमें पहुँचनेपर अनुपमको गङ्गा-प्राप्ति हो गयी।

श्रीरूप रथ-यात्राके पूर्व ही नीलाचल पहुँचकर हरिदास ठाकुरके निवास-स्थानपर ठहरे, वहीं उनका प्रभुसे मिलना हुआ। वृन्दावनमें रहते हुए ही कृष्ण-लीला-नाटक-रचनाका संकल्प करके, कुछ लिखकर, कड़चाके रूपमें रखे हुए थे। व्रज-लीला और पुर (द्वारका)-लीला एक साथ लिखनेकी ही उनकी इच्छा थी। मार्गमें ही सत्यभामादेवीके स्वप्नादेशसे एवं नीलाचलमें प्रभुके साक्षात् आदेशसे दोनों लीलाओंको दो भागोंमें अलग-अलग लिखना आरम्भ किया। नीलाचलमें रहते-रहते दोनों नाटकों (व्रजलीलाके ललितमाधव एवं पुरलीलाके विदग्धमाधव) का जितना अंश लिखा गया था, स्वरूपदामोदर एवं राय रामानन्दके साथ प्रभु उसका आस्वादन किया करते। श्रीरूपके सिद्धान्त एवं वर्णनशैलीका सारस्य देखकर राय रामानन्द और स्वरूपदामोदरने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। रसशास्त्र प्रकट करनेके उद्देश्यसे प्रभुने उनमें पुनः शक्ति-संचार किया एवं अपने पार्षद भक्तगणोंसे भी श्रीरूपपर कृपा करनेके लिये प्रभुने अनुरोध किया।

कुछ महीनों नीलाचलमें रहकर श्रीरूप गौड़देश होकर फिर वृन्दावन आये और वहाँ प्रभुके आदेशका कार्य करने लगे। प्रभुकी शिक्षाके आदर्शके अनुरूप बहुत-से ग्रन्थोंका प्रणयन करके श्रीरूपने गौडीय वैष्णवधर्मके साधन-भजनकी रीतिका प्रचार किया। उनके द्वारा रचित सभी ग्रन्थ प्रकाशमें आये हैं या नहीं—यह कहा नहीं जा सकता। जो कुछ प्रकाशमें आये हैं, उनमें भक्ति-रसामृत-सिन्धु, उज्ज्वल-नीलमणि, लघुभागवतामृत, ललितमाधव, विदग्धमाधव, दान-केलि-कौमुदी, स्तवमाला, श्रीराधाकृष्णगणोद्देश-दीपिका, मथुरा-माहात्म्य, उद्धवसंदेश, हंसदूत, श्रीकृष्ण-जन्म-तिथि-विधि, पद्यावली, आख्यातचन्द्रिका, नाटक-चन्द्रिका आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। ये श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृतकार श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीके एकतम शिक्षागुरु थे। रघुनाथदास गोस्वामीके नीलाचलसे वृन्दावन आनेपर श्रीरूप और श्रीसनातनने उनको अपना तीसरा भाई मानकर वहाँ रखा था।

श्रीरूप और सनातन गोस्वामीके वृन्दावनवासके सम्बन्धमें श्रीकृष्णदास कविराजने उनकी दिनचर्याका इस प्रकार वर्णन किया है—

अनिकेतने दोहे रहे, जत वृक्षगण ।
एकेक वृक्षेर तले एकेक रात्रि शयन ॥
विप्रगृहे स्थूल भिक्षा, काहों मधुकरि ।
शुष्क रूटि-चाना चाबाय, भोग परिहरि ॥
करोया मात्र हाथे काँथा छिड़ा बहिर्व्वास ।
कृष्ण-कथा कृष्णनाम नर्त्तन उल्लास ॥
अष्टप्रहर कृष्णभजन—चारि दण्ड शयने ।
नाम-संकीर्त्तने सेहों नहे कत दिने ॥
कभु भक्ति-रसशास्त्र करये लिखन ।
चैतन्य-कथा शुने, करे चैतन्य-चिन्तन ॥

(चै० च० म० १६।११५–११६)

अर्थात्—बिना घर बाँधे दोनों रहते। जितने वृक्ष थे, उनमेंसे एक-एक वृक्षके नीचे एक-एक रात्रि शयन करते (किसी वृक्षके नीचे भी एक दिनसे अधिक नहीं रहते)। किसी ब्राह्मणके घरसे निर्वाह-मात्र भिक्षा-ग्रहण करते और कभी मधुकरीसे काम चलाते। भोगोंका (स्वादिष्ट भोजनका) त्याग करके सूखी रोटी खाकर और चने चबाकर रह जाते। आठों पहर श्रीकृष्ण-भजन करते और केवल चार घड़ी शयन करते, किसी-किसी दिन नाम-संकीर्त्तनमें (प्रेमोन्मत्त रहनेके कारण) उतना भी नहीं सो पाते। कभी भक्तिरस-शास्त्र-लेखन, और कभी चैतन्य-कथा-श्रवण और चैतन्य-चिन्तन करते।

मङ्गलाचरण

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः ।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ॥

(पद्यावली १२७)

संसार-भयसे भीत होकर कोई श्रुतिकी, कोई स्मृतिकी और कोई महाभारतकी शरण लें तो ले सकते हैं; मैं तो इस प्रसङ्गमें श्रीनन्द महाराजकी वन्दना करता हूँ, जिनके आँगनमें परब्रह्म क्रीड़ा करते हैं ।

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते ।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः ॥

(श्रीरूपगोस्वामीका वाक्य—चै० च० म० १९।३)

कृष्णप्रेम-प्रदानकारी महादानी श्रीकृष्णचैतन्य नामक गौरकान्ति कृष्ण ! तुमको प्रणाम ।

योऽज्ञानमत्तं भुवनं दयालुरुल्लाघयन्नप्यकरोत् प्रमत्तम् ।
स्वप्रेमसम्पत्-सुधयाद्भुतेहं श्रीकृष्णचैतन्यममुं प्रपद्ये ॥

(गोविन्दलीलामृत १।२)

परम कृपालुतावश जिन्होंने अज्ञानमत्त सब लोगोंको निज-प्रेम-सम्पत्तिरूप अमृतके द्वारा भवरोगसे मुक्त करके उनको प्रेमोन्मत्त बना दिया, उन अद्भुत लीलावाले श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके मैं शरणापन्न होता हूँ ।

वृन्दावनीयां रसकेलिवार्तां कालेन लुप्तां निजशक्तिमुत्कः ।
संचार्य रूपे व्यतनोत् पुनः स प्रभुर्विधौ प्रागिव लोकसृष्टिम् ॥

(चै० च० म० १९।१)

सृष्टिके आरम्भमें भगवान्‌ने जिस प्रकार ब्रह्मामें शक्ति संचारित करके लोक-सृष्टिका विस्तार किया था, उसी प्रकार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने उत्कण्ठित-चित्त होकर, श्रीरूपगोस्वामीमें शक्ति-संचार करके कालके प्रभावसे विलुप्त हुई वृन्दावन-सम्बन्धी रसकेलि-कथाका पुनः सर्वत्र विस्तार किया ।

श्रीरूप-शिक्षा

प्रभु कहे, शुन रूप ! भक्ति-रसेर लक्षण।
सूत्र रूपे कहि, विस्तार ना जाय वर्णन ॥१२३॥

'कह रहा भक्ति-रसके लक्षण, हे रूप ! सुनो', प्रभु यों बोले।
बस, सूत्र-रूपमें, नहीं सविस्तर जा सकते आशय खोले ॥

पारावार-शून्य गम्भीर भक्ति-रस-सिन्धु।
तोमा चाखाइते तार कहि एक बिन्दु ॥१२४॥

इस कूल और उस कूल रहित गंभीर भक्ति-रसका सागर।
आस्वादन तुम्हें कराने को हूँ एक बूँद लाया मुँहपर ॥

जीव-तत्व

एइत ब्रह्माण्ड भरि अनन्त जीवगण।
चौरासी लक्ष योनि ते करये भ्रमण ॥१२५॥

है यह सारा ब्रह्माण्ड रहा अगणित असंख्य जीवोंसे भर।
जो हैं चौरासी लाख योनियोंमें काटा करते चक्कर ॥

अनन्त जीवगण—जीवोंकी संख्या अनन्त है। ये जीव अपने-अपने कर्मफलके अनुसार चौरासी लाख योनिमें भ्रमण करते रहते हैं।

जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः।
कृमयो रुद्रसंख्याकाः पक्षिणो दशलक्षकम्॥
त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानुषाः।
सर्वयोनिं परित्यज्य ब्रह्मयोनिं ततोऽभ्यगात्॥

जीव नौ लाख बार जलज योनिमें, बीस लाख बार स्थावर योनिमें, ग्यारह लाख बार कृमियोनिमें, दस लाख बार पक्षियोनिमें, तीस लाख बार पशु-योनिमें और चार लाख बार मनुष्य-योनिमें भ्रमण करता है। इसके बाद साधनके बलसे सब योनि छोड़कर ब्रह्मयोनिको प्राप्त करता है।

विशेष-विशेष कर्मफलानुसार जीव विशेष-विशेष योनिमें भ्रमण करता है। इसका कोई क्रम नहीं है।

केशाग्र-शतेकभाग पुन शतांश करि।
तार सम सूक्ष्म जीवेर स्वरूप विचारि॥१२६॥

केशाग्र भागके शततमांशको बाँटे फिर शत एक बार।
जीवोंका सूक्ष्म स्वरूप तुल्य उसके, ऐसा मेरा विचार॥

जीवेर स्वरूप—जीवका स्वरूप बताते हैं। बालके अग्र भागके एक सौ भाग किये जायँ और उनमेंसे प्रत्येक भागके फिर एक सौ भाग किये जायँ, इस प्रकार करनेपर शेष प्रत्येक भाग जितना सूक्ष्म होता है, स्वरूपतः जीव भी उतना ही सूक्ष्म है; अर्थात् जीवका स्वरूप अति सूक्ष्म है। भगवान् विभुचित् हैं और जीव अणुचित्—भगवान्‌का चित्कण अंश है। जीव अंश है, भगवान् अंशी। जीव नियम्य है, भगवान् नियन्ता। जीव शास्य है, भगवान् शास्ता (**भूमिकामें 'जीव-तत्व' प्रबन्ध द्रष्टव्य**)॥

इसके प्रमाणमें नीचे कई एक शास्त्र-वचन उद्धृत हुए हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवत (१०।८७।३० श्रुतिव्याख्याधृतश्लोकः)—

केशाग्रशतभागस्य शतांशसदृशात्मकः ।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः ॥१५॥

संस्कृत-टीका—केशाग्रेति । अयं जीवः चित्कणः चित्स्वरूपस्य कणः पुञ्जायमानाग्नीनां स्फुलिङ्गो भवति यथा । कथम्भूतः केशाग्रशतभागस्य य एकभागः पुनः तत्छतांशस्यैकांशसदृशं समानात्मकं स्वरूपं यस्य सः । पुनः कीदृशः सूक्ष्मं अतिक्षुद्रं स्वरूपं मूर्त्तिर्यस्य सः पुनः संख्यातीतः हि निश्चितम् ।

अन्वय—अयं (यह) जीवः (जीव) केशाग्रशतभागस्य (केशाग्रके शत भागके) शतांशसदृशात्मकः (शतांशके तुल्य) सूक्ष्मस्वरूपः (सूक्ष्मस्वरूप-विशिष्ट), संख्यातीतः हि (असंख्य-अनन्त), चित्कणः (चित्कणिकाके तुल्य है ।)

अनुवाद—केशाग्रके शत भागका एक भाग लिया जाय, उस एक भागके शतांशके तुल्य सूक्ष्म जीवका स्वरूप है । यह चैतन्य-स्वरूपके कणके तुल्य है एवं संख्यामें अनन्त है ।

तथाहि पञ्चदश्यां चित्रदीपे (८१)

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहापरा श्रुतिः ॥१६॥

संस्कृत टीका—वालः केशः तस्य । शतधाकल्पितस्य शतांशकृतस्य—चक्रवर्त्ती ।

अन्वय—सः (उस) जीवः (जीवको) वालाग्रशतभागस्य च (केशाग्रके शत भागके) शतधाकल्पितस्य (शतांशका) भागः (एक भाग) विज्ञेयः (समझो)—इति च (यही) पराश्रुतिः (पराश्रुति) आह (बताती है) ।

अनुवाद—केशाग्रके शतभागका एक भाग लिया जाय, उस एक भागके शतांशके तुल्य जीवको समझो, यही बात पराश्रुति बताती है ।

तथाहि श्रीमद्भागवते (११।१६।११)

सूक्ष्माणामप्यहं जीवः ॥१७॥

संस्कृत टीका—सूक्ष्मोपाधित्वात् दुर्ज्ञेयत्वाच्च जीवस्य सूक्ष्मत्वम्—स्वामी ।

अन्वय—अहं (मैं) सूक्ष्माणां (सूक्ष्म वस्तु-समूहके बीच) अपि (भी) जीवः (जीव हूँ) ।

अनुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—"सूक्ष्म वस्तु-समूहके बीच मैं जीव हूँ ।" सूक्ष्म वस्तु-समूहके बीच सूक्ष्मतम वस्तु जो जीव है—यही यहाँ बताया गया है ।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।८७।३०)

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥१८॥

संस्कृत टीका—एवं तावत् परमात्मनः सकाशादविद्याकृत-कार्योपाधयस्तदंशा एव जीवा जाताः संसरन्तो भजन्तीत्युक्तम् । तत्र यद्येका अविद्या तदा जीवस्याप्येकत्वादेकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गः । अथवा नाना अविद्यास्तर्हि तस्यैव अंशान्तरेण संसारानपगमादनिर्मोक्ष इत्यादितर्कबलेन वस्तुत एव नानात्मनस्तत्र च तेषामणुत्वे देहव्यापि चैतन्यं न स्यात् । देहपरिमाणत्वे च मध्यमपरिमाणानां सावयवत्वेनानित्यत्वं स्यात् । अतः सर्वगता नित्याश्चेति केचन मन्यन्ते । तत्र न तावदुक्तदोषप्रसङ्गः । अविद्याभेदेन तच्छक्तिभेदेन वा बद्धमुक्तव्यवस्थासम्भवात् । ईश्वरस्य तु न केनाप्यंशेन संसारशङ्केत्युक्तमेव । प्रसिद्धं चात्मैक्यं सर्वश्रुतिषु । किंच इमं पक्षमन्तर्यामि ब्राह्मणमपि न सहते इत्याह—अपरिमिता इति । वस्तुत एवानन्ता ध्रुवास्तेनैव रूपेण नित्याः सर्वगताश्च तनुभृतो जीवा यदि स्युस्तर्हि तेषां समत्वात् शास्यता न घटत इति कृत्वा हे ध्रुव ! नियमो नियमनं त्वया न स्यादितरथा तु घटेत । कथम् यन्मयमुपाधितो यद्विकारप्रायं यज्जीवाख्यमजनि जातं तत्तस्य स्वविकारस्य नियन्तृ नियामकं भवेत् । अविमुच्य कारणतया अपरित्यज्य । किं तत् । सममनु-

स्यूतम्। ननु किं यत्तच्छब्दैर्ज्ञायते चेदुच्यतामिदं तदित्यत आह—अनुजानतां यद्मतमिति। जानीम इति वदतां यद्मतमविज्ञातप्रायम्। अविषयत्वात्। तथा च श्रुतिः

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।
अवचनेनैव प्रोवाच स ह तूष्णीं बभूव॥" इत्यादि

किंच मतस्य ज्ञातस्य दुष्टतया दोषश्रवणात्। तथा च श्रुतिः

यदि मन्यसे सुवेदेति दह्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेषु" इत्यादि।

तस्माद् यत्तच्छब्दावद्योत्यमतर्क्यं किमपि सर्वानुस्यूतत्वेन समं नियन्तृ भवेदित्यर्थः। स्वामी।

अन्वय—**ध्रुव** (हे नित्य)! **अपरिमिताः** (असंख्य) **ध्रुवाः** (एवं नित्य) **तनुभृतः** (जीवगण) **यदि** (यदि) **सर्वगताः** (सर्वगत–विभु–व्यापक हों) **तर्हि** (तो) **शास्यता** (ईश्वर-कर्तृक जीवका शास्यत्व) **इति** (यह) **नियमः** (नियम) **न** (नहीं रहे), **इतरथा** (अन्यथा—जीव यदि सर्वगत न हो, तो) **न** (शास्यताका अभाव नहीं होगा); **च** (और) **यन्मयं** (जिसके विकार रूपसे जीव) **अजनि** (उत्पन्न होता है), **तत्** (वह) **अविमुच्य** (कारणत्व हेतु परित्याग न करके) **नियन्तृ** (नियामक) **भवेत्** (होता है); **समं** (सम—जीवको तुम्हारे समान) **अनुजानतां** (जो लोग समझते हैं—मानते हैं, उनका) **यत्** (जो मत है) [**तत्**] (वह) **मत-दुष्टतया** (मतदुष्ट–शास्त्रविरुद्ध होनेके कारण) **अमतं** (दोषयुक्त है)।

अनुवाद—श्रुतिगणने श्रीकृष्णसे कहा—"हे नित्य! असंख्य एवं नित्य जीवगण यदि सर्वगत–विभु-व्यापक हों, तो जीव भी ईश्वरतुल्य हो जायँगे; जीवके ईश्वरतुल्य हो जानेसे जीव ईश्वरके शासनाधीन हैं—यह नियम नहीं रहता। किंतु अन्यरूप होनेसे अर्थात् जीव व्यापक न होकर सूक्ष्म होनेपर उक्त नियमका—जीव ईश्वरके शासनाधीन है, इस नियममें व्याघात नहीं होता। साथ ही, जिसके विकाररूपसे जीव या कार्य उत्पन्न होता है—अर्थात् जिस कारणसे कोई कार्य उत्पन्न हो, कारणत्वका त्याग न करके भी—कारणरूपसे विद्यमान रहनेपर भी,

वह उस कार्यका या जीवका नियामक होता है। अतएव ईश्वरसे जीवकी उत्पत्ति होनेके कारण ईश्वर नियन्ता है और जीव नियम्य। कार्यको कारणके समान—जीवको ईश्वरके समान जो मानते हैं, उनका मत दुष्ट—वेद-विरुद्ध होनेसे दोष-युक्त है।

तनुभृतः—जिन्होंने तनको—देहको धारण अर्थात् आश्रय किया है, प्रपञ्चगत सुखभोगकी आशासे जो स्थावर-जंगमादि देहका आश्रय लेकर जगत्‌में आये हैं, वे समस्त जीव संख्यामें **अपरिमिता**—असंख्य हैं। और नित्य श्रीभगवान्‌के चित्कण अंश होनेसे वे भी **ध्रुवाः**—नित्य वस्तु हैं। और ऐसी अवस्थामें यदि वे **सर्वगताः**—सर्वत्र हैं जो, तद्रूप अर्थात् व्यापक या विभु हों, प्रत्येक जीव ही यदि स्वरूपतः विभु या व्यापक हो तो ऐसी स्थितिमें जीवके साथ ईश्वरका कोई भी पार्थक्य नहीं रहता—ईश्वर जिस प्रकार नित्य और विभु हैं, जीव भी उसी प्रकार नित्य और विभु हो जाय—ईश्वर तो विभु अर्थात् व्यापक हैं ही, जीव भी व्यापक हो जाय, तो ऐसी अवस्थामें **शास्यता**—(ईश्वर-कर्तृक जीवकी शास्यता—जीव ईश्वरके शासनाधीन रहे (अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां—इति वैष्णव-तोषिणी-टीकाधृत श्रुतिवाक्य), **इति नियमः**—यह नियम नहीं रहता। किंतु **इतरथा**—यदि इसके विपरीत हो अर्थात् यदि जीव सर्वगत—विभु या व्यापक न हो—यदि जीव सूक्ष्म या व्याप्य हो तो उक्त नियमका व्याघात नहीं होता, ईश्वर जीवका शास्ता—यह श्रुति-विहित नियम ठीक रह सकता है। श्रुतिवाक्य जब अन्यथा नहीं हो सकता और श्रुति जब बताती है कि ईश्वर जीवका शास्ता है तब जीव विभु या व्यापक हो नहीं सकता; क्योंकि जीव व्यापक होनेसे ईश्वर-द्वारा शासनीय नहीं हो सकता। वस्तुतः ईश्वर ही जीवका नियामक है, कारण **यन्मयम् अजनि**—जिसके विकाररूपसे कोई भी कार्य उत्पन्न हो, जिस कारणसे किसी भी कार्यका उद्भव हो, वह कारण **अविमुच्य**—कारणत्वका परित्याग न करके उस कार्यका **नियन्ता**—नियामक होकर रहता है। कारण ही कार्यका नियामक होता है। जीवरूप कार्य जब ईश्वररूप कारणसे उत्पन्न हुआ है (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते—तैत्तिरीय ३।१), तब ईश्वर ही जीवके नियन्ता—शास्ता हुए। इस प्रकार ईश्वर जीवके नियन्ता होनेसे जीव व्यापक

व सर्वगत नहीं हो सकता। कार्य और कारणको, जीव और ईश्वरको **समं**—समान कहकर **अनुजानतां**—जो मानते हैं, उनका मत अश्रद्धेय है; क्योंकि यह **मतदुष्टतया**—मतदुष्टताहेतु, शास्त्र विरुद्ध होनेसे **अमतं** दोषयुक्त है।

इस श्लोकमें युक्ति-प्रमाण द्वारा बताया गया कि जीव व्यापक नहीं है, विभु नहीं है। यह क्षुद्र है। किंतु कितना क्षुद्र ? जीव जिस देहका आश्रय लेकर जन्म ग्रहण करता है, क्या यह उस देहके समान है ? नहीं, वह भी नहीं हो सकता। यदि मान लिया जाय कि जीवका परिमाण देहके परिमाणके समान है, तो जीवमें अनित्यता आ जायगी। कारण, एक ही जीव कर्मफलानुसार भिन्न-भिन्न देहका आश्रय लेकर रहता है—कभी मनुष्य, कभी पशु, कभी पक्षी, कभी कीट-पतङ्ग, कभी वृक्ष-लतादि होता है। इसी प्रकार एक ही जीव भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न परिमाणयुक्त देहका आश्रय लेकर रहता है। वह जीव कभी क्षुद्रतम कीटके देहका आश्रय लेकर रहता है, कभी बृहत्तम जन्तुके देहका भी आश्रय लेकर रहता है। यदि देह-परिमित ही जीव हो, तो जिस जीवने हाथी या मनुष्यके देहका आश्रय किया है, क्षुद्र कीटके देहमें उसका अटना नहीं हो सकता; फिर, कीटके देहका जिस जीवने आश्रय किया है, वह मनुष्यके देहमें सर्वत्र व्याप्त होकर नहीं रह सकता। अथवा एक ही जीवको विभिन्न समयमें भिन्न-भिन्न देहका आश्रय करनेके लिये विभिन्न परिमाण या आयतन ग्रहण करना होगा। यदि ऐसा ही हो तो जीवके परिमाण या आयतनका नित्यत्व नहीं रह सकता। किंतु नित्य वस्तुओंमें किसी भी प्रकारका अनित्यत्व सम्भव नहीं। इसीलिये देहके परिमाणके समान ही जीवका परिमाण है--जीवका परिमाण और आयतन मध्यम है--यह मत भी ग्रहणीय नहीं है। तब फिर जीवका आयतन किस प्रकारका है ? यह अति सूक्ष्म, परमाणुके समान क्षुद्र है। तब फिर प्रश्न उठ सकता है कि जीव स्वरूपतः यदि अति सूक्ष्म, परमाणुके समान क्षुद्र ही है, तो समस्त देहमें चैतन्यका संचार किस प्रकार होता है ? देहमें अपनी चेतना-शक्ति नहीं है, चित्कण जीवस्वरूपसे ही देहकी चेतना-शक्ति है; किंतु अणु-तुल्य क्षुद्र जीव तो देहके एक अति क्षुद्र अंशमें पड़ा रहता है, उससे समस्त देहमें चेतना-शक्ति किस प्रकार विस्तारित होती है ? उत्तर यही है कि घरके केवल एक स्थानमें दीपक

रहता है, किंतु वह अपने तेजके प्रभावसे सम्पूर्ण घरको आलोकित—प्रकाशित करता रहता है। देहके एक स्थानमें यदि हरिचन्दनका स्पर्श होता है तो उससे समस्त देहमें स्निग्धताका विस्तार होता है, उसी प्रकार अणुपरिमित जीव भी देहके एक अंशमें रहकर अपने चेतनारूप प्रभावसे समस्त देहमें व्याप्त रहता है —देहमें सर्वत्र अपनी चेतनाको संचारित करता रहता है।

अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति।
यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्रुषः॥

(तोषणीधृत ब्रह्माण्डपुराण-वचन)

भूमिकामें 'जीवतत्व' प्रबन्ध द्रष्टव्य*।

इससे यह जाना गया कि जीव स्वरूपतः विभु भी नहीं, मध्यम-आकार भी नहीं, परंतु जीव अति सूक्ष्म, सूक्ष्मतम वस्तु है।

उपर्युक्त पयार छन्द 'केशाग्र-शतेक भाग...' के प्रमाणमें ये चार श्लोक हुए।

तार मध्ये स्थावर-जङ्गम दुइ भेद।
जङ्गमे तिर्य्यक जल-स्थल-चर-विभेद॥१२७॥

इन सारे जीवोंका जानो, है स्थावर-जंगम भेद द्विधा।
थलचर, जलचर, तिर्यक् तथैव जंगम जीवोंका भेद त्रिधा॥

तार मध्ये—अनन्त जीवोंके बीच। **स्थावर**—जो चल-फिर न सकें, जैसे वृक्षादि। **जङ्गम**—जो चल-फिर सकते हैं—जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि। **दुइ भेद**—जीव साधारणतया दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं,—स्थावर और जंगम। जङ्गमे—जंगम जीवोंकी कुछ श्रेणियाँ हैं, जैसे—तिर्यक्, जलचर, थलचर। तिर्यक्—पशु पक्षी आदि। जलचर—मत्स्यादि जो जलमें ही निवास करते हैं। स्थलचर—मनुष्यादि, जो स्थलपर निवास करते हैं।

---

*'जीवतत्व' प्रबन्धका पूरा हिंदी अनुवाद 'श्रीहरिनाम संकीर्तन मण्डल', श्रीधामवृन्दावन द्वारा प्रकाशित हुआ है, कोई सज्जन देखना चाहें तो वहाँसे मंगा सकते हैं।

तार मध्ये मनुष्य जाति अति अल्पतर ।
तार मध्ये म्लेच्छ, पुलिन्द, बौद्ध, शबर ॥१२८॥

इनमें भी मानवकी गणना अत्यल्प कि गिनले उँगलीपर ।
उनमें अवेदवादी अनेक म्लेच्छादिक, बौद्ध, पुलिन्द, शबर ॥

अनन्त कोटि जीवोंमेंसे स्थावर निकाल दिये जायँ, और जंगमोंमेंसे भी तिर्यक् आदि बाद दे दिये जायँ तो मनुष्योंकी संख्या समस्त जीव-मण्डलीकी तुलनामें अति अल्प है । इन अल्पसंख्यक मनुष्योंमें म्लेच्छ, पुलिन्द, बौद्ध, शबर प्रभृति जातियाँ भी है, जो वेदको नहीं मानतीं । इनको छोड़ दिया जाय तो शेष जो मनुष्य बचते हैं, जो वेदको मानते हैं, उनकी संख्या और भी अल्प है ।

वेदनिष्ठ मध्ये अर्द्धेक वेद मुखे माने ।
वेद-निषिद्ध पाप करे, धर्म्म नाहि गणे ॥१२९॥

ज़ो वेदनिष्ठ, उनमें प्रायः आधेकी श्रद्धा बस मुखगत ।
वे नहीं धर्मको गिनते हैं, रहते श्रुति-वर्जित, पाप-निरत ॥

इस प्रकार अति अल्पसंख्यक जो कुछ लोग वेदोंको मानते हैं, उनमें भी आधेके लगभग वेदको केवल कहने मात्रके लिये मानते हैं, मनसे नहीं मानते— केवल मुखसे कहते हैं कि 'हम वेदोंको मानते हैं', किंतु वेदकी विधिके अनुसार धर्म-कर्मादिका अनुष्ठान नहीं करते और वेद-निषिद्ध पापकर्म भी करते हैं ।

धर्म्माचारिगण मध्ये बहुत कर्म्मनिष्ठ ।
कोटि कर्म्मनिष्ठ मध्ये एक ज्ञानी श्रेष्ठ ॥१३०॥

धर्माचारी गणमें अनेक स्वर्गादिक-कामी कर्मनिष्ठ ।
इन कोटि कर्मनिष्ठोंमें मिलता एक कहीं ज्ञानी वरिष्ठ ॥

जो कुछ लोग वेदविहित धर्मादिका अनुष्ठान करते हैं, उनमेंसे अनेक लोग स्वर्गादि सुखभोगके उद्देश्यसे ही उन धर्म-कर्मादिका अनुष्ठान करते रहते हैं-- स्वसुखानुसंधानमें ही वे व्यस्त रहते हैं। इस प्रकार स्वसुखानुसंधानमें रत कोटि-कोटि कर्मनिष्ठ व्यक्ति भी जहाँपर हैं, वहाँ भी ज्ञानी* एक भी नहीं मिलता, और यदि मिल जाय तो कोटि कर्मियोंकी अपेक्षा भी एक ज्ञानी श्रेष्ठ है। क्योंकि ज्ञानी जीव-ब्रह्मकी अभेद-चिन्ता करनेपर भी केवल अनित्य स्वर्गादिकी चिन्तामें व्यस्त नहीं रहते एवं सच्चे ज्ञानी अपनी अभीष्ट सायुज्य-मुक्तिको लक्ष्य बनाकर भगवान्की भक्ति करते हैं—इसलिये कि भक्तिकी कृपाके बिना केवल ज्ञान किसीको भी मुक्ति नहीं दे सकता। (चै० च० म० २२।१६)।

*ज्ञानी--ब्रह्मके साथ सायुज्य-कामी ज्ञानमार्गका साधक।

कोटि ज्ञानी मध्ये हय एक जन मुक्त।
कोटि मुक्त मध्ये दुर्ल्लभ एक कृष्णभक्त ॥१३१॥

ऐसे करोड़ ज्ञानीजनमें होता जन कोई एक मुक्त।
दुर्लभ करोड़ मुक्तोंमें भी जन एक कृष्णकी भक्ति-युक्त ॥

कोटि-कोटि ज्ञानमार्गके साधकोंमें भी कोई एक जन मायाबन्धनसे मुक्ति लाभ करके जीवन्मुक्त हो सकता है। अर्थात् जो साधनके द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकें, इस प्रकारके साधक नितान्त अल्प हैं। (**मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति। श्रीम०भा० ६।१६।४**) इस प्रकार जीवन्मुक्ति प्राप्त करने-वाले कोटि ज्ञानियोंमेंसे भी कृष्णभक्त कोई एक मिलेगा या नहीं—इसमें संदेह है।

अथवा कोटि-कोटि व्यक्ति जहाँ ज्ञानमार्गके साधनसे सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं, उनमें भी कोई एक जन सच्चा कृष्णभक्त मिलेगा या नहीं, संदेह है। (इसके बादके पयारकी टीका देखिये।)

उपर्युक्त पाँच पयारोंमें यह दिखाया गया है कि अनन्त कोटि जीवोंकी बात तो दूर रही, केवल मनुष्योंमें भी कृष्णभक्तोंकी संख्या अति सामान्य है।

कृष्णभक्त निष्काम,--अतएव 'शान्त'।
भुक्ति-मुक्ति-सिद्धिकामी सकलि अशान्त॥१३२॥

निष्काम सदा श्रीकृष्णभक्त, वह होता है अतएव शान्त।
पर भुक्ति-मुक्तिके तथा सिद्धिके इच्छुक सब होते अशान्त॥

निष्काम--कामनाशून्य। अपने सुखकी वासनाको काम कहते हैं; जिनमें यह नहीं है, वे निष्काम हैं। **शान्त**--आत्मसुख-वासनासे चित्त चञ्चल होता है। कृष्णभक्तमें आत्मसुख-वासना नहीं होती, अतएव उसके मनमें चञ्चलता नहीं होती। उनका मन स्थिर, धीर होता है, इसलिये वे शान्त होते हैं। अथवा श्रीकृष्णनिष्ठ बुद्धिको शम कहते हैं, 'शमो मन्निष्ठता बुद्धेः'--ऐसी बुद्धि या शम जिनके है, वे ही शान्त होते हैं। कृष्णभक्तोंकी बुद्धि श्रीकृष्ण-निष्ठ होती है, अतएव श्रीकृष्णभक्त शान्त होते हैं।

भुक्ति*-मुक्ति-सिद्धिकामी--जो विषयादि या स्वर्गादि भोग चाहें, जो सालोक्यादि मुक्ति चाहें या जो अणिमादि सिद्धियाँ चाहें, वे सभी आत्मसुखके लिये कुछ चाहते हैं। इस आत्मसुखवासनासे उनका मन चञ्चल रहता है, अस्थिर रहता है; इसलिये वे अशान्त हैं। अथवा उनकी बुद्धि सर्वदा आत्मसुखका या अपनी दुःखनिवृत्तिका अनुसरण करती है, इसलिये उनकी श्रीकृष्ण-निष्ठ बुद्धि नहीं रह सकती; अतएव वे अशान्त हैं।

***भुक्ति**—परकालका स्वर्गादि भोग और इहकालका सुखभोग।

सिद्धियोंका वर्णन

सिद्धि—अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ— जैसे (१) अणिमा, (२) लघिमा, (३) महिमा, (४) प्राप्ति, (५) ईशित्व, (६) वशित्व, (७) प्राकाम्य और (८) कामावसायिता।

(१) अणुके समान क्षुद्र हो सकनेका नाम अणिमा है। अणिमाद्वारा इतना छोटा हुआ जा सकता है कि पत्थरके भीतर भी प्रवेश किया जा सके।

(२) अत्यन्त लघु या हल्का हो सकनेका नाम लघिमा है। लघिमा सिद्धिसे इतना हल्का हुआ जा सकता है कि मनुष्य सूर्यकिरणके सहारे ऊपरकी ओर उठ सके।

(३) खूब बड़ा हो सकनेका नाम महिमा है। इसके द्वारा साधक अपनी आकृतिको पर्वतके समान भी बड़ी बना सकता है।

(४) जिस सिद्धिके प्रभावसे जब जो वस्तु चाही जाय, वही मिल सके—यहाँ तक कि आकाशके चन्द्रमातकको स्पर्श किया जा सके, उसका नाम है प्राप्ति।

(५) जिस सिद्धिके प्रभावसे पञ्चभूतों एवं भौतिक पदार्थोंकी सृष्टि आदि की जा सके, उसका नाम है ईशित्व।

(६) जिस सिद्धिके द्वारा पञ्चभूतों एवं उनके कार्योंको वशीभूत किया जा सके, उसका नाम है वशित्व।

(७) जिस सिद्धिके द्वारा समस्त इच्छाएँ- यहाँतक कि मिट्टीमें भी जलकी भाँति डुबकी लगानेकी इच्छा भी पूर्ण की जा सके, उसका नाम है प्राकाम्य।

(८) जिस सिद्धिद्वारा सत्यसंकल्पत्व लाभ हो—जैसा संकल्प हो, वैसा ही काम किया जा सके, यहाँ तक कि दग्धबीजसे भी अङ्कुर उत्पन्न किया जा सके, उसको कहते हैं कामावसायिता।

मुक्तिके प्रकार

मुक्ति—पाँच प्रकारकी मुक्ति (१) सार्ष्टि, (२) सारूप्य, (३) सामीप्य, (४) सालोक्य और (५) सायुज्य।

(१) **सार्ष्टि**—परव्योममें जो सब भगवत्स्वरूप हैं, उनमेंसे जिस स्वरूपका उपासक जो भक्त होता है, वह भक्त भजनके द्वारा सिद्धि प्राप्त करके, उसी स्वरूपके धाममें उसी स्वरूपके परिकरगणके समान ऐश्वर्य प्राप्त करे, उस मुक्तिको सार्ष्टि कहते हैं। अणुचैतन्य जीव विभुचैतन्य ईश्वरके समान ऐश्वर्य-लाभ कभी नहीं कर सकता। उनकी कृपा होनेसे उनके धामोचित परिकरगणके समान ऐश्वर्य ही प्राप्त कर सकता है। श्रीबृहद्भागवतामृतके २।४।१९९ श्लोककी टीकामें श्रीपाद सनातन गोस्वामीने लिखा है—"पार्षदगणकी अपेक्षा श्रीभगवान्‌का

असाधारण विशेषत्व यही है कि भगवान्में स्वाभाविक--स्वरूपानुबन्धी परम ऐश्वर्य-विशेष वर्तमान है और अनन्य-साधारण मधुर-मधुर विचित्र सौन्दर्यादि महिमा-विशेष भी वर्तमान है। पार्षदगणकी अपेक्षा भगवान्में यह सब वैशिष्ट्य न होता तथा पार्षदगणके ऐश्वर्यादि भगवान्के समान ही होते तो पार्षदगण विचित्र भजन-रसका अनुभव नहीं कर पाते। **'एवं पार्षदेभ्यस्तेभ्योऽपि सकाशात् भगवता विधेयस्वाभाविकपरमैश्वर्यविशेषापेक्षया तथानन्य-साधारणमधुरमधुरविचित्रसौन्दर्यादिमहिमविशेषदृष्ट्या भगवतो महान् विशेषः सिद्ध्यत्येव। अन्यथा सदा परमभावेन तेषां तस्मिन् विचित्र-भजनरसानुपपत्तेरिति दिक्।'** यहाँपर, नित्यसिद्ध पार्षदगणके ऐश्वर्यादि भी भगवान्के ऐश्वर्यादिकी अपेक्षा न्यून होते हैं--यही बताया गया है।"

(२) **सारूप्य**—समानरूप-प्राप्ति। जो जिस स्वरूपके उपासक हैं, वे यदि उसी स्वरूपके धाममें, उसी स्वरूपके समान रूप प्राप्त करें, अर्थात् नारायणके उपासक यदि चतुर्भुजत्व प्राप्त करें, नृसिंहके उपासक यदि नृसिंहके समान रूप प्राप्त करें, तो उनकी मुक्तिको सारूप्य कहते हैं।

(३) **सामीप्य**--समीपमें या निकटमें अवस्थिति। जो जिस भगवत्स्वरूपके उपासक हैं, वे यदि उसी स्वरूपके निकट रहनेका अधिकार प्राप्त कर सकें तो उनकी मुक्तिको सामीप्य कहते हैं।

(४) **सालोक्य**--समान अर्थात् एक ही लोकमें– धाममें वास। जो जिस स्वरूपके उपासक हैं, वे यदि उसी स्वरूपके धाममें निवास करनेका अधिकार प्राप्त करें तो उनकी मुक्तिको सालोक्य कहते हैं। मायिक अभिनिवेश दूर हुए बिना, एवं जीवके अपने स्वरूपमें उपस्थित हुए बिना सालोक्यादि कोई भी मुक्ति नहीं मिल सकती। और सालोक्यादि कोई-सी भी मुक्ति पा लेनेपर जीवको संसारमें आना नहीं पड़ता। इसीलिये सालोक्यादिको मुक्ति कहा जाता है।

(५) **सायुज्य**—सालोक्यादि चार प्रकारकी मुक्तियोंके अतिरिक्त एक प्रकारकी और मुक्ति होती है, उसको सायुज्य कहते हैं। उपास्य स्वरूपके साथ सम्मिलित हो जानेका नाम सायुज्य है। वस्तुतः सायुज्य मुक्तिमें जीव उपास्य स्वरूपके साथ तादात्म्य मात्रको प्राप्त होता है—उसीप्रकार जैसे

अग्निके संयोगसे लोहा अग्नि-तादात्म्य प्राप्त करता है। उपास्य स्वरूपके साथ जीव अभेदत्व प्राप्त नहीं करता, कर भी नहीं सकता। कारण, जीव स्वरूपतः ब्रह्म या ईश्वर नहीं हो सकता। किसी भी स्वरूपका व्यत्यय (परिवर्तन) किसी समय नहीं हो सकता। जो हो, यह सायुज्य मुक्ति भी दो प्रकारकी होती है--ब्रह्म-सायुज्य और ईश्वर-सायुज्य। निर्विशेष ब्रह्मके साथ जो सायुज्यको प्राप्त होते हैं, उनकी मुक्तिको ब्रह्म-सायुज्य कहते हैं। और भगवान्‌के किसी एक सविशेष स्वरूपके--नारायण, नृसिंहादिके स्वरूपके साथ जो लोग सायुज्य प्राप्त करते हैं, उनके सायुज्यको ईश्वर-सायुज्य कहते हैं। भगवान् आनन्दस्वरूप हैं, उनके सभी स्वरूप आनन्दस्वरूप हैं, ब्रह्म भी आनन्दस्वरूप हैं। जो जीव सायुज्य मुक्ति प्राप्त करते हैं, वे ब्रह्मके या ईश्वरके आनन्दमें निमग्न रहते हैं। अग्नि-तादात्म्यप्राप्त लोहेका प्रत्येक अणु-परमाणु जिस प्रकार अग्निद्वारा अनुप्रविष्ट है, सायुज्यप्राप्त जीवका प्रत्येक अणु-परमाणु भी तद्रूप आनन्दद्वारा अनुप्रविष्ट हुआ रहता है, इसीसे उसका आनन्द-तादात्म्य या ब्रह्म-तादात्म्य सिद्ध होता है और आनन्द-निमग्नता भी सिद्ध होती है। आनन्द-निमग्नताकी स्फूर्ति ही उसके चित्तमें प्रधानरूपसे जागरूक रहती है। **"भगवल्लक्षणानन्दनिमग्नतास्फूर्तिरेव प्रधानम्—प्रीतिसन्दर्भः ॥५॥"** अन्य कोई भी भाव उनके चित्तमें प्रधानता प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव उनके स्वतन्त्र अस्तित्वका ज्ञान या स्वरूपानुबन्धि-कर्त्तव्य तथा भगवत्सेवाका अनुसंधान भी उनके चित्तमें प्रधानता प्राप्त नहीं कर सकता— साधारणतया उदित भी नहीं होता। किंतु जो भक्त हैं, वे चाहते हैं भगवान्‌की सेवा। सेवा करनेके लिये अपना स्वतन्त्र ज्ञान प्रयोजनीय है। इस स्वतन्त्र अस्तित्वकी स्फूर्ति एवं सेवानुसंधान ही भक्तकी काम्य वस्तु हैं। इसीलिये कोई भी भक्त सायुज्य मुक्तिकी इच्छा नहीं करता; भगवान् देना चाहें तो भी उसे स्वीकार नहीं करता; क्योंकि इससे भगवत्-सेवानुसंधानका ज्ञान विलुप्त हो जानेकी सम्भावना है।

भुक्ति-मुक्ति-कामीकी स्थिति

प्रश्न उठता है कि सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य और सामीप्य मुक्तिमें धामोचित

ऐश्वर्यादिकी कामना रह सकती है; अतः इन चार प्रकारकी मुक्तिकी जो कामना करते हैं, उनके चित्तका चञ्चल होना सम्भव है। किंतु सायुज्य मुक्तिमें जब अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रहता, तब स्वसुख-वासनाका अवकाश भी नहीं रह सकता; अतएव सायुज्यमुक्तिकामी चञ्चल या अशान्त क्यों होगा ? सायुज्य-मुक्तिकामीमें स्वसुख-वासना नहीं होती, यह ठीक है; परंतु स्वदुःख-निवृत्तिकी कामना तो रहती ही है। संसारकी ज्वाला-यन्त्रणासे अस्थिर होकर, उससे निष्कृति पानेकी आकांक्षा ही सायुज्य-मुक्तिके साधनमें लोगोंको प्रवृत्त करती है; अतएव इस प्रकारके साधनके मूलमें ही अपने लिये कोई एक वस्तुकी— दुःख-निवृत्तिकी-आकांक्षा रहती है। इस प्रकारकी आकांक्षा भी काम है। अपने लिये कुछ भी चाहना— काम है, वही चित्तकी चञ्चलता उत्पन्न करेगा। और यदि कहा जाय कि 'दुःख-निवृत्तिके अभिप्रायसे साधनमें प्रवृत्त न होकर, यदि ब्रह्मके साथ मिलकर ब्रह्म हो जानेके अभिप्रायसे ही साधनमें प्रवृत्त हुआ जाय तो ?' तब, ऐसा होनेपर भी अपने लिये कोई कामना ही— ब्रह्मत्व-प्राप्तिके गौरवकी कामना ही— साधनमें प्रवर्तक हुई, अतएव यह भी चित्तचाञ्चल्यजनक काम ही है। दुःख-निवृत्तिकी अथवा ब्रह्मत्व-लाभके गौरवकी कामना साधनकी शेष अवस्थामें भी रह जाती है। क्योंकि इस कामनाको हटा देनेपर उसकी जगह अन्य कोई भी उद्देश्य सायुज्यकामीके लिये नहीं रह सकता। अतएव सदा ही ज्ञानमार्गके साधककी साधनाकी प्रवर्तक हुई अपने लिये कुछ-न-कुछ प्राप्त करनेकी वासना। इस प्रकारके साधककी श्रीकृष्णनिष्ठ बुद्धि भी नहीं रहती। इसीलिये सायुज्यमुक्तिकामीको भी अशान्त बताया गया है।

विशेषतः, जबतक एक नित्य, अचञ्चल, सर्वग्रासी एवं अनन्त वैचित्रीमय आनन्दका पता जीवको नहीं लगता, जबतक उस आनन्दसे चित्त अत्यन्त आविष्ट नहीं हो जाता, तबतक चित्तकी चञ्चलताकी— इधर-उधर भागनेकी निवृत्ति सम्भव नहीं। इस प्रकारका आनन्द एकमात्र भक्तिमें ही— लीला-रस-आस्वादनमें ही सम्भव है। इस भक्तिसुखका आस्वादन, लीला-रसका आस्वादन जिन्होंने कर लिया है, उनके चित्तको ब्रह्मानन्द भी विचलित नहीं कर सकता।

ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द लीलारस। ब्रह्मज्ञानी आकर्षिया करे आत्मवश॥
(चै० च० म० १७। १३१)

इससे जाना जाता है कि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मानन्दमें अचञ्चल— शान्त तभीतक रह सकते हैं, जबतक वे अशेषरसामृतसिन्धु श्रीकृष्णके रूप-गुण-लीलादिकी कथा नहीं सुनें। शुक-सनकादि ही इसके प्रमाण हैं।

जन्म हैते शुक-सनकादि हय ब्रह्ममय। कृष्णगुणाकृष्ट हैया कृष्णेरे भजय॥
(चै० च० म० २४। ८१)

नव योगीश्वर जन्म हैते साधक ज्ञानी। विधि-शिव-नारद - मुखे कृष्णगुण शुनि॥
गुणाकृष्ट हआ करे कृष्णेर भजन। (चै० च० म० २४। ८४-८५)

अतएव कृष्णगुणाकृष्ट न होनेतक, भक्ति महारानीकी सम्यक् कृपा न होनेतक मुक्तिकामीके—और तो क्या, ब्रह्मानन्दनिष्ठके भी चित्त-चाञ्चल्यकी सम्भावना रहती है। उस क्षणतक उनका चित्त भी अशान्त रहता है। जबतक भुक्ति-मुक्ति-वासना हृदयमें रहती है, तबतक भक्ति महारानीकी कृपा— भक्ति-सुख सम्भव नहीं और तबतक चित्त भी अशान्त रहेगा।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावत् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥ (भ०र०सि० १।२।१५)

इन्हीं सब कारणोंसे सायुज्यमुक्तिकामीको भी अशान्त बताया गया है।

भक्तिमार्गके साधक

जो लोग भक्तिमार्गके साधक हैं, दुःखनिवृत्तिकी या कृष्णसेवासुखकी कामना उनके भी साधनकी प्रवर्तक हो सकती है, अतएव प्रारम्भमें अपने दुःखकी निवृत्तिकी या स्वसुखकी वासना—अपने लिये कुछ वासना उनमें भी रह सकती है एवं अधिकांशमें इस प्रकारकी वासना ही वास्तवमें साधनकी प्रवर्तक होती है। किंतु इस प्रकारकी वासना जितने दिनों रहे, तबतक ऐसे भक्तिमार्गके साधकको भी निष्काम नहीं कहा जा सकता, अतएव, शान्त भी नहीं कहा जा सकता।

वास्तवमें तबतक इस प्रकारके साधकके हृदयमें भक्तिका आविर्भाव भी नहीं हो सकता। किंतु ऐकान्तिक भावसे भजन करते-करते भगवान्‌की कृपासे भक्ति-मार्गके साधककी उक्त कामना दूर हो जा सकती है; उसके स्थानपर कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी सेवाकी वासना उत्पन्न हो जा सकती है– वह वासना उत्पन्न हो जा सकती है कि जिसके मूलमें अपने लिये कोई भी वस्तु नहीं, कुछ भी नहीं, और तो क्या, आनन्दस्वरूप श्रीकृष्णकी सेवाके स्वाभाविक फलस्वरूप अपने-आप जो एक अपूर्व अनिर्वचनीय सुख भक्तके हृदयमें उन्मिषित हो उठता है, उस सुखका भी भान वहाँ नहीं रहता—जिस वासनाके मूलमें मात्र श्रीकृष्णका सुख ही रह जाता है। अपने सर्वस्वका त्याग होकर, अपनी सुख-सुविधाका सम्यक् रूपसे त्याग होकर, एकमात्र श्रीकृष्णका प्रीति-सम्पादन ही जिस सेवाका उद्देश्य बच जाता है, उस सेवाकी वासना हृदयको सम्पूर्णरूपसे अभिभूत कर ले सकती है।

काम लागि कृष्ण भजे पाय कृष्ण रसे। काम छाड़ि दास हैते हय अभिलाषे॥
(चै० च० म० २२। २७)

इस प्रकारकी अवस्थामें साधक जब पहुँच जाता है, तभी उसके चित्तमें भक्तिका आविर्भाव सम्भव है एवं तभी वह वास्तवमें कृष्णभक्त कहला सकता है। इस प्रकारका कृष्णभक्त निष्काम एवं श्रीकृष्णनिष्ठबुद्धियुक्त होता है, अतएव शान्त, अचञ्चल होता है– इस बातमें कोई भी संदेह नहीं। इस प्रकारके कृष्ण-भक्तोंकी संख्या अधिक नहीं हो सकती, इसका सहजमें ही अनुमान किया जा सकता हैं।

साधक भक्तके लक्षण

जो लोग इस संसारमें रहकर यथावस्थितदेहसे साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, उन सबको ही साधक कहा जा सकता है। किंतु भक्ति-शास्त्रमें किसी एक विशेष अवस्थामें पहुँचे हुए साधकोंको साधकभक्त बताया गया है। भक्तिसाधनमें प्रेम-विकासका क्रम इस प्रकार है :– पहिले श्रद्धा, इसके बाद

साधुसङ्ग, तब भजनकी क्रिया, फिर भजनके प्रभावसे आंशिक अनर्थ-निवृत्ति, इसके उपरान्त भजनमें निष्ठा, तब भजनमें रुचि, फिर भजनमें आसक्ति, इसके बाद कृष्णमें रति या प्रेमाङ्कुर, तदुपरान्त प्रेम। जीवके यथावस्थित देहसे इससे अधिक और नहीं होता। जो हो, प्रेमके पूर्ववर्ती स्तरका नाम रति है। इस रतिकी अवस्थाको जो प्राप्त हो चुके हैं उनको **जातरति** भक्त कहते हैं। जातरति भक्तके लिये भी अपराधसे उत्पन्न अनर्थ होनेकी सम्भावना रहती है। इन जातरति भक्तोंको साधक भक्त कहा जाता है। भक्तिरसामृतसिन्धुके दक्षिण विभागकी प्रथम लहरीमें साधक भक्तके लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं :—

उत्पन्नरतयः सम्यक् नैर्विघ्न्यमनुपागताः।
कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधकाः परिकीर्तिताः ॥१४४॥
बिल्वमङ्गलतुल्या ये साधकास्ते प्रकीर्तिताः ॥१४५॥

"जो लोग जातरति भक्त हैं, किंतु सम्यक् प्रकारसे जिनकी विघ्न-निवृत्ति नहीं हुई है एवं जो श्रीकृष्णसाक्षात्कारके लिये योग्य हैं, उनको साधक-भक्त कहते हैं। बिल्वमङ्गल ठाकुर जैसे भक्त ही साधकभक्त हैं।"

ऐसा लगता है कि प्रेमतककी अवस्थामें पहुँच जानेपर भी जबतक यथावस्थित देहमें साधक अवस्थित रहते हैं, तब तक उनको साधक भक्त ही कहा जाता है। यह इसीलिये कि उनका साधनभूत शरीर तबतक वर्तमान है, और उन्होंने नित्य लीलाकी सेवाके लिये उपयुक्त देहकी उपलब्धि नहीं की है। भक्तके हृदयमें भक्तके प्रेमका ही श्रीकृष्ण आस्वादन करते हैं। जिनके हृदयमें प्रेम नहीं है, उनके हृदयमें श्रीकृष्णके आस्वादन-योग्य कोई भी वस्तु नहीं है; अतएव उनके हृदयमें श्रीकृष्णके 'सतत विश्राम' की सम्भावना भी नहीं है। जात-रति भक्तोंके चित्तमें प्रेमका अङ्कुर मात्र उत्पन्न होता है, अतः उनके हृदयमें श्रीकृष्णके लिये आस्वाद्य वस्तुका अङ्कुर है। किंतु अजात-रति भक्तोंके चित्तमें श्रीकृष्णके विश्रामकी सम्भावना भी नहीं दीखती। जिस फूलमें मधु उत्पन्न नहीं हुआ है, उस फूलपर भौंरा देखनेमें नहीं आता।

इस लोक या परलोकके सुखभोगोंके उद्देश्यसे ही अधिकांश लोग (कर्मनिष्ठ) साधनमें प्रवृत्त होते हैं; क्योंकि देह-सुखके लिये ही मायाबद्ध जीव लालायित

रहता है। इहलोक या परलोकके सुखभोगोंकी वासनाका त्याग करके, केवल दुख-निवृत्तिके उद्देश्यसे, जन्म-मृत्युसे उद्धार पानेकी वासनासे, अथवा ब्रह्म-प्राप्तिके गौरव-लाभकी वासनासे जो लोग (ज्ञाननिष्ठ) साधनमें प्रवृत्त होते हैं, उनकी संख्या बहुत ही कम है; क्योंकि देह-सुखभोगके अभ्यस्त प्राणियोंमें बहुत ही कम लोग परलोकके सुखभोगकी वासनाका त्याग कर सकते हैं, अथवा सुखभोगके उपायस्वरूप देहको छोड़नेकी कामना कर सकते हैं। इसीलिये ज्ञान-मार्गके साधकोंकी संख्या कर्ममार्गके साधकोंकी अपेक्षा बहुत कम होती है (पूर्वोक्त पयार 'कोटि कर्मनिष्ठ मध्ये एक ज्ञानी श्रेष्ठ' का यह भाव है)।

जो दूसरेके लिये आत्मत्याग कर सकें—ऐसे लोग जगत्में बहुत थोड़े हैं। संसारमें हम लोग बहुतसे दुःख-दैन्य देखते हैं। इस प्रकारके दुःख-दैन्यसे अभिभूत लोगोंकी दुरवस्थाको देखकर जिनके प्राण रो उठते हैं, उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं होती। जिनके प्राण ऐसे विपन्न लोगोंको देखकर क्रन्दन कर उठें, उनमें-से भी बहुत कम लोग दैन्य-पीड़ित लोगोंकी सहायता करनेमें सचेष्ट होते हैं। जो इस प्रकारकी सहायताके लिये सचेष्ट हैं, उनमेंसे जो अपना स्वार्थ, अपनी सुख-सुविधाको त्यागकर भी इस प्रकारकी सहायता करनेमें उत्सुक हों, उनकी संख्या तो नितान्त ही कम है। इस प्रकार देखनेमें आता है कि इस जगत्में, जहाँ प्रत्यक्ष रूपसे दूसरेके दुःख-दैन्यको देखकर उनकी सेवामें प्रवृत्त होनेका एक हेतु है—सेवाके लिये अपेक्षित समवेदना भी हृदयमें वर्तमान है, एवं जहाँ अपनी सुख-सुविधाको भुलानेतककी प्रवृत्ति है, वहाँ भी, अपनेको भुलाकर जो दूसरोंकी सेवामें सचमुच लग सकें— इस प्रकारके लोगोंकी संख्या बहुत ही कम है; फिर श्रीकृष्णसेवाकी तो बात ही क्या! हम मायामुग्ध जीव श्रीकृष्णको देख नहीं पाते। शास्त्रादिमें उनकी कथा पढ़ते-सुनते मात्र हैं, और यह भी सुनते हैं कि संसारकी भाँति कोई भी दुःख-दैन्य श्रीकृष्णको स्पर्श नहीं कर सकता, वे आनन्दस्वरूप हैं, सर्वदा ही आनन्दरस-समुद्रमें निमग्न रहते हैं; अतएव जीवकी जो करुणावृत्ति उसको संसारमें परसेवाके लिये प्रेरित करती है, उस वृत्तिसे श्रीकृष्णकी सेवाके लिये कोई प्रेरणा मिलेगी, इसमें भी संदेह है। सम्भव है कि अनेक जन्मोंकी साधनाके फलस्वरूप किसी सुदूर भविष्यमें, श्रीकृष्णसेवा-जनित सुखकी आशासे, वर्तमान सुख-

सुविधादिका त्याग करके श्रीकृष्णभजनमें प्रवृत्त होनेवाले लोग उनकी अपेक्षा बहुत कम होंगे, जो संसारमें दूसरोंके दुःख-दैन्य-निवारणके उद्देश्यसे स्वार्थादिका त्याग करते हैं; क्योंकि एक तो, जो लोग संसारमें परसेवा-रत हैं, उनकी सहायता और सेवासे कितने लोग उपकृत और सुखी हो रहे हैं, इसको वे लोग प्रत्यक्ष देख सकते हैं, अतएव वे सेवाके कार्यमें उत्साह और प्रेरणा पा सकते हैं। किंतु जो लोग श्रीकृष्णभजनमें प्रवृत्त होते हैं, उनके भजनको श्रीकृष्ण अङ्गीकार कर रहे हैं, उनके भजनसे श्रीकृष्ण प्रसन्न हो रहे हैं, इस बातका ग्रन्थादिको छोड़कर कोई भी प्रत्यक्ष निदर्शन साधारणतया वे नहीं पा सकते। इससे भजनके लिये उत्साहादि शिथिल हो जा सकते हैं। दूसरे, भजन करते-करते, श्रीकृष्णकी कृपासे किसी भी समय श्रीकृष्णसेवा प्राप्त हो सकती है— यह केवल शास्त्रादिसे ही जाना जाता है। किंतु शास्त्रवाक्यमें दृढ़ विश्वास न होनेसे, बहुतसे लोग श्रीकृष्णसेवा-प्राप्तिको अनिश्चित समझते हैं। 'अनिश्चित' पर भरोसा करके, 'निश्चितको' अर्थात् प्रत्यक्ष-प्राप्त संसारसुखको छोड़नेके लिये बहुत कम लोग अग्रसर होते हैं। इन सब कारणोंसे, श्रीकृष्णसेवाजनित-आत्मसुखके लोभसे भी जो लोग भजनमें प्रवृत्त होते हैं, उनकी संख्या नितान्त ही कम है। तथा श्रीकृष्णसेवाजनित आत्मसुखके लोभतकको त्यागकर जो लोग मात्र श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही भजनमें प्रवृत होते हैं, उनके भजनका प्रवर्त्तक होता है केवल श्रीकृष्णसेवाका लोभ (सेवाजनित आत्मसुखका लोभ नहीं)। यह लोभ और भी अल्प-संख्यक लोगोंमें रहनेकी सम्भावना है। इसीलिये कहा गया है— 'दुर्लभ एक कृष्णभक्त'।

नारायण-परायण भक्तकी दुर्लभता

तथाहि श्रीमद्भागवते (६।१४।५)—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥१६॥

संस्कृतटीका—मुक्तानां प्राकृतशरीरस्थत्वेऽपि तदभिमानशून्यानाम्। सिद्धानां प्राप्तसालोक्यादीनांच कोटिष्वपि मध्ये नारायण-सेवा मात्राकाङ्क्षी सुदुर्लभः। प्रशान्तात्मा सर्वोपद्रवरहितः—श्रीजीवः।

मुक्तानामपि मध्ये कश्चिदेव सिध्यतीति। तत्रैतदुक्तं भवति। मोक्षसाधनवन्तोऽपि वहवो मुक्ता न भवन्ति, किंतु केचिदेवः मुक्ता अपि सर्वे सिद्धा न भवन्ति, केचिदेव। जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः॥ इत्याद्युक्तेः च सिद्धाः संनिहितसायुज्याः एवोच्यन्ते तेषां मध्ये नारायणपरायण इति निर्द्धारणानुपपत्तेः षष्ठीयं पञ्चम्यर्थ एव। ततश्च मुक्तेभ्यः सिद्धेभ्यश्च सकाशात् नारायणपरायणः श्रैष्ठयात् सुदुर्लभः —चक्रवर्ती।

अन्वय–महामुने! (हे महामुने!) **मुक्तानां** (जीवन्मुक्तोंमें) **सिद्धानां** (और संनिहित सायुज्य लोगोंमें) **अपि** (भी) **कोटिषु** (कोटि जनोमें) **अपि** (भी) **प्रशान्तात्मा** (प्रशान्तचित्त) **नारायण-परायणः** (नारायण-सेवा-परायण) **सुदुर्लभः** (सुदुर्लभ है)।

अनुवाद– श्रीशुकदेवजीके प्रति परीक्षित् महाराज कहते हैं– हे महामुने! जो लोग जीवन्मुक्त हैं और जिनकी सायुज्य मुक्ति निकट ही है, उन कोटि जनोंमेंसे भी (श्रेष्ठताकी दृष्टिसे) नारायणसेवापरायण एक भक्त भी सुदुर्लभ है। (श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीकी टीकाके अनुसार अनुवाद)।

मुक्तानां––ज्ञानमार्गके साधनके प्रभावसे प्राकृत शरीरमें अवस्थित रहकर भी देहादिके अभिमानशून्य व्यक्तियोंके, जीवन्मुक्तोंके। **सिद्धानां**– साधनसे जो सिद्ध हो गये हैं, देहान्त होते ही जो सायुज्य मुक्ति पा जायेंगे, ऐसे व्यक्तियोंके। श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि 'मुक्तानां' और 'सिद्धानां'– इन दोनों शब्दोंमें पञ्चमीके अर्थमें ही षष्ठी विभक्तिका प्रयोग हुआ है– भक्तके श्रेष्ठ होनेके नाते मुक्त और सिद्धगणसे भी नारायण-सेवा-परायणभक्त दुर्लभ है। **"मुक्तेभ्यः सिद्धेभ्यश्च सकाशात् नारायणपरायणः श्रैष्ठ्यात् सुदुर्लभः।"** अर्थात् जहाँ करोड़ों जीवन्मुक्त और करोड़ों ज्ञानमार्गके साधनसिद्ध व्यक्ति पाये जाते हैं, वहाँ भी एक भी भक्त सुदुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि करोड़ों जीवन्मुक्त और सिद्ध व्यक्तियोंसे भी एक नारायण-सेवा-परायण भक्त श्रेष्ठ है। 'कोटि मुक्त मध्ये दुर्लभ एक कृष्णभक्त' के प्रमाणमें यह श्लोक है।

भक्ति-लताकी कथा।

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता-बीज॥१३३॥

कोई जाग्रत-सौभाग्य जीव ब्रह्माण्ड बीच चक्कर खाता।
गुरु-कृष्ण-कृपासे भक्ति-लताका बीज हृदयमें ले आता॥

पूर्व दो पयारोंमें कृष्णभक्तिकी दुर्लभता बताकर, किस प्रकार वह कृष्णभक्ति प्राप्त हो सकती है, अब वही बताया जा रहा है। यह भक्ति महत्कृपासे ही प्राप्त हो सकती है। साधुसङ्गसे महत्कृपा प्राप्त होनेपर उसके प्रभावसे कृष्ण-भक्तिमें श्रद्धा, भजनमें प्रवृत्ति आदि उत्पन्न होती है और भजनमें प्रवृत्ति उत्पन्न होनेसे जीव भजन करना आरम्भ करता है। भजनके साथ-साथ महत्कृपा अपनी शक्तिद्वारा भजनकी प्रवृत्तिको क्रमशः परिपुष्ट और परिवर्द्धित करती रहती है। इससे यह भजन-प्रवृत्ति क्रमशः निष्ठा, रुचि और आसक्तिके स्तरको प्राप्त होती रहती है; तथा अन्तमें शुद्धसत्वके साथ तादात्म्य लाभ करके चिन्मयता प्राप्त करती है और फिर कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी सेवावासनारूप प्रेममें परिणत हो जाती है।

ब्रह्माण्ड भ्रमिते—ब्रह्माण्डके अन्तर्गत अनेक योनियोंमें भ्रमण करते-करते। **भाग्यवान् जीव**—महत्कृपासे कृष्णभक्तिमें जिसकी श्रद्धादि उत्पन्न होने लगी है, ऐसा जीव। **गुरु-कृष्ण-प्रसादे**—गुरुकी कृपा द्वारा और कृष्णकृपा द्वारा, महत्कृपा द्वारा।

भक्तिलता-बीज—महत्-कृपाके आश्रित भजनकी आकांक्षा।

परवर्ती पयारोंसे पता लगता है कि श्रवण-कीर्तनादि-साधन-भक्तिके अनुष्ठानरूपी जलसिञ्चनसे यह भक्ति-लताबीज अंकुरित होकर क्रमशः परिपुष्ट और परिवर्द्धित होता है तथा अन्तमें फूल-फलसे परिशोभित होकर सार्थक होता है। श्रीकृष्णप्रेम तो है इस भक्तिलताका फल। फलका अङ्कुर निकलता है फूलसे। वस्तुतः फूलकी परिणति ही फल है। भक्तिशास्त्रसे जाना जाता है

कि रतिकी परिणत अवस्थाका नाम है प्रेम। इसलिये रतिको प्रेमाङ्कुर भी कहते हैं। अतएव प्रेमको भक्तिलताका फल माननेपर रतिको उसका फूल कहा जाता है। यह रति प्राकृत वस्तु नहीं है, यह शुद्धसत्व-स्वरूपा, अप्राकृत चिन्मय वस्तु है। साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते, अनर्थ-निवृत्ति हो जानेपर, चित्त जब शुद्धसत्वके आविर्भावकी योग्यताको प्राप्त करता है, तभी उस चित्तमें शुद्धसत्वका आविर्भाव होता है। चित्त तब शुद्धसत्वके साथ तादात्म्यको प्राप्त होकर चिन्मयता लाभ करता है, जैसे अग्निके साथ तादात्म्यको प्राप्त होकर लोहा उज्ज्वलता और दाहिकाशक्ति धारण कर लेता है। जो हो, कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छाका नाम 'प्रेम' है, अर्थात् कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी सेवाके द्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेकी जो इच्छा है, उसका ही नाम 'प्रेम' है। यह इच्छा प्राकृत मनकी वृत्ति नहीं है, यह चिच्छक्तिका ही वैचित्रीविशेष है। वस्तुतः जीवके प्राकृत चित्तमें ऐसी इच्छा स्वतः उदय नहीं हो सकती किंतु सत्सङ्गमें कृष्णकथा सुनते-सुनते श्रीकृष्णसेवाके निमित्त साधारण रूपसे एक इच्छाका उदय हो सकता है। यह इच्छा प्राकृत मनकी वृत्ति होनेपर भी भजनमें इसका एक विशेष मूल्य है, क्योंकि इससे भजनमें प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। साधारणरूपसे कृष्णसेवाकी जो इच्छा जीवके प्राकृत चित्तमें उदय होती है, वह इच्छा, कृष्ण-सेवाके निमित्त बलवती उत्कण्ठा या उन्मादकता उत्पन्न न कर सकनेपर भी, सेवाकी योग्यता प्राप्त करनेके उद्देश्यसे, साधारण रूपसे भजनके लिये एक इच्छा या उन्मुखता उत्पन्न कर सकती है। यह उन्मुखता या भजन-प्रवृत्तिकी इच्छा उत्पन्न होनेसे ही जीव भजनमें प्रवृत्त हो सकता है तथा भजनमें प्रवृत्त होनेपर, भजन करते-करते, चित्तकी मलिनता दूर हो जानेके अनन्तर,— अनर्थ-निवृत्ति होने पर— भजनमें क्रमशः उत्कण्ठा बढ़ती रहती है, और भजनमें क्रमशः निष्ठा, रुचि और आसक्ति उत्पन्न होती है। ये निष्ठा, रुचि और आसक्ति भी भजन-प्रवृत्तिके क्रमविकासकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। भक्तिके अङ्गोंके अनुष्ठानमें आसक्ति उत्पन्न होते ही समझ लेना चाहिये कि चित्तसे भुक्ति-मुक्तिकी वासना दूर हो गई है और चित्त विशुद्ध होकर शुद्धसत्वके आविर्भावकी योग्यता प्राप्त कर चुका है। उस समय चित्तमें शुद्धसत्व आविर्भूत होकर चित्तको शुद्धसत्वमय

बना डालता है तथा इस शुद्धसत्वमय चित्तमें—शुद्धसत्वके साथ तादात्म्यप्राप्त चित्तमें— वह शुद्धतत्व ही रतिरूपमें परिणत होता है और यह रति क्रमशः उत्कर्ष प्राप्त करते-करते कृष्णप्रेममें परिणत होती है। शुद्धसत्वके आविर्भावसे चित्त जब शुद्धसत्वके साथ तादात्म्यको प्राप्त होता है, तब समस्त चित्तवृत्तियाँ भी शुद्धसत्वके साथ तादात्म्य-लाभ कर लेती हैं— उनकी प्राकृतता विलुप्त हो जाती है और वे चिन्मयता प्राप्त कर लेती हैं। सत्सङ्गके प्रभावसे जीवके प्राकृत चित्तमें साधारणरूपसे जो भजनप्रवृत्ति उत्पन्न हुई थी और जो साधन-भक्तिके अनुष्ठानके प्रभावसे क्रमशः परिस्फुट और स्वच्छ होते-होते निष्ठा, रुचि और आसक्तिके रूपमें परिणत होकर भी, जो प्राकृत मनकी वृत्ति ही मानी जाती, वही वृत्ति शुद्धसत्वके साथ तादात्म्य-लाभ करके चिन्मय बन जाती है। इस प्रकारकी अवस्थामें, भजनप्रवृत्तिसे आरम्भ करके निष्ठा, रुचि, आसक्ति, रति आदिसे लेकर प्रेमतकके विभिन्न स्तरोंको एक ही भजनप्रवृत्तिकी या एक ही कृष्णसेवा-वासनाके विभिन्न विकासकी अवस्था माना जाता है। इन उपर्युक्त अवस्थाओंमें भजनप्रवृत्ति है पहिला स्तर या कृष्णसेवा-वासनाकी अपरिस्फुट अवस्था, और प्रेम है अन्तिम स्तर या कृष्णसेवा-वासनाकी परिस्फुट अवस्था। बीजकी परिणति होती है अंकुरमें, अंकुरकी परिणति लतामें— शाखा-प्रशाखा-पत्र-पुष्पमें, पुष्पकी परिणति फलमें। इस प्रकार माना जाय तो कृष्णसेवाकी वासनाको ही भक्तिलता कहा जा सकता है और कृष्णसेवाकी वासनाको भक्ति-लता माननेपर भजनकी प्रवृत्तिको अर्थात् लताकी अव्यक्त अवस्थाको भक्तिलताका बीज एवं रतिको उसका फूल और प्रेमको उसका फल कहा जा सकता है। जल सींचते-सींचते, जैसे बीज अंकुरित होता है, अंकुर लतामें परिणत होता है, लता क्रमशः परिपुष्ट और परिवर्द्धित होकर फूल और फल धारण करती है, उसी प्रकार श्रवण-कीर्त्तनादि साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते भजन-प्रवृत्ति क्रमशः गाढ़ताको प्राप्त होती है, क्रमशः चित्तकी मलिनता दूर होती है और निष्ठा, रुचि, आसक्तिकी अवस्थाको अतिक्रम करके यह वृत्ति ही रति एवं अन्तमें प्रेमरूपमें परिणत होती है।

प्रश्न उठ सकता है कि सत्सङ्गादिके बिना अपने आप ही यदि किसीके

चित्तमें किसी भी समय भजनकी प्रवृत्तिका उदय हो तो उसको भक्ति-लताका बीज कहा जा सकता है या नहीं ?

उत्तर– अपने-आप उद्भूत भजन-प्रवृत्ति यदि महत्-कृपाका आश्रय प्राप्त न कर सके तो उसको भक्ति-लताका बीज कहना संगत नहीं होगा; क्योंकि, भजनाङ्गका अनुष्ठान करनेपर भी उससे प्रेमप्राप्तिकी सम्भावना नहीं देखी जाती।

महत्-कृपा बिना कोन कर्म्मे भक्ति नय। कृष्ण-भक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय॥
(चै० च० म० २२। ३२)

अर्थात्—महत्-कृपाके बिना किसी भी कर्मसे भक्ति उत्पन्न नहीं होती। कृष्ण-भक्ति तो दूर रही, संसारका क्षय भी नहीं होता।

एक दृष्टान्तद्वारा उसको समझनेकी चेष्टा की जाय। धानसे ही धानका पौधा उत्पन्न होता है और उसी पौधेमें धान लगता है। धानके भीतर जो शस्य—चावल है, उसीमें अङ्कुरका, पौधे और फलरूपी धानका उपादान समाया रहता है। यह होनेपर भी, आवरणशून्य—तुषहीन तण्डुल अर्थात् चावलसे कभी भी अङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकता– सौ बार जल सींचनेपर भी नहीं होगा। तण्डुलका आवरण जो तुष है, वही शीतोष्णादिसे तण्डुलकी—तण्डुलकी उत्पादिता-शक्तिकी रक्षा करता है। केवल इतना ही नहीं, यह आवरण तण्डुलको उत्पादन-शक्ति भी देता है—ऐसा लगता है; नहीं तो शीतोष्णादिसे रक्षाके निमित्त तण्डुलमें अन्य आवरण देनेसे अङ्कुरोद्गम होता। अङ्कुरादिका उपादान शस्यमें अवस्थित रहनेपर भी, जैसे आवरणके आश्रयके बिना उसमें-से अङ्कुरोद्गम नहीं हो सकता, वैसे ही भजनप्रवृत्ति, कृष्णसेवा-वासनाकी अस्फुट अवस्था होनेपर भी, महत्-कृपाके आश्रयके बिना परिस्फुट नहीं हो सकती और शुद्धसत्वके साथ तादात्म्यप्राप्तिकी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकती। महत्-कृपाके आश्रयके बिना अपने-आप उत्पन्न भजनप्रवृत्तिकी इतनी शक्ति नहीं हो सकती, जिसके द्वारा वह भगवान्की माया-शक्तिके साथ प्रतियोगिता करके सफलता प्राप्त कर सके– मायाके इङ्गितसे उत्पन्न भोगवासनादिको पराजित कर सके। किंतु उसके पीछे यदि परम-शक्तिशालिनी महत्-कृपा—जो कृपा अनन्तकोटि ऐश्वर्यके अधिपति स्वयं भगवान् तकको वशीभूत कर देनेमें समर्थ है, वही कृपा यदि भजन-प्रवृत्तिके पीछे अवस्थित

रहे तो बहिरङ्गा मायाशक्ति कभी भी उसका गतिरोध करनेमें समर्थ नहीं होगी। इसीलिये महत्-कृपाके आश्रित भजन-प्रवृत्तिको ही भक्ति-लताका बीज कहा गया है। महत्-कृपाके आश्रयसे हीन भजन-प्रवृत्तिके द्वारा भक्तिके उन्मेषकी सम्भावना न होनेके कारण उसको भक्ति-लताका बीज नहीं कहा जाता।

कोई-कोई मानते हैं कि इस पयारमें 'भक्ति-लताका बीज' से रतिका लक्ष्य कराया गया है। किंतु वह संगत नहीं लगता। उसका कारण यह है—भक्तिरसामृतसिन्धु-आदि भक्ति-ग्रन्थोंसे जाना जाता है कि साधन-भक्तिके अनुष्ठानके फलरूपमें ही रति उत्पन्न होती है—पहले साधनभक्ति, उसके पीछे रति। दो हेतुओंसे रतिका आविर्भाव होता है—एक तो साधनाभिनिवेशसे और दूसरे कृष्णकृपा और कृष्णभक्तकी कृपासे। कृष्णकृपा या कृष्णभक्तकी कृपासे जहाँ रतिका उदय होता है, वहाँ साधनका प्रयोजन नहीं रहता, कृष्णकृपासे या कृष्णभक्तकी कृपासे सहसा चित्तमें रतिका आविर्भाव हो जाता है (भ० र० सि० १।३।८)। किंतु रतिका इस प्रकारका आविर्भाव विरल ही देखनेमें आता है (भ० र० सि० १।३५)। आलोच्य पयारके परवर्ती पयारमें जब श्रवण-कीर्त्तनादि साधन-भक्तिकी बात कही गयी है, तब स्पष्ट ही समझमें आता है कि वहाँ कृष्णकृपा या भक्तकृपा-जनित भक्तिकी बात नहीं कही जा रही है—साधनाभिनिवेशजनित भक्तिकी ही बात कही जा रही है। इसीसे पहले साधन-भक्तिका अनुष्ठान और उसके पश्चात् रतिका उदय। श्रीपाद कविराज गोस्वामीजीने जो पहले भक्ति-लताके बीजकी प्राप्ति और उसके पीछे इस बीजके सम्बन्धमें साधन-भक्तिके अनुष्ठानरूप जल-सिञ्चनकी बात कही है, इससे स्पष्ट ही समझमें आता है कि भक्ति-लताके बीजकी बात कहनेमें उन्होंने रतिका संकेत नहीं किया। रति तो भक्ति-लताके पुष्प-स्थानमें है, जो पहिले ही बताया जा चुका है।

श्रीमन्महाप्रभुने सनातनगोस्वामीको शिक्षा देते हुए मध्यलीलाके २२वें परिच्छेदके ४८वें पयार छन्दमें कहा है—'कृष्णभक्ति-जन्म-मूल हय साधु-सङ्ग' अर्थात् कृष्ण-भक्तिके उन्मेषित होनेमें एकमात्र कारण साधु-सङ्ग है। ऐसी अवस्थामें साधुसङ्गको भक्ति-लताका बीज कहा जा सकता है या नहीं? बीज है लताका उपादान कारण। साधुसङ्ग भी भक्तिका कारण अवश्य है, किंतु उपादान कारण

नहीं हो सकता—साधु-सङ्ग ही भक्तिरूपमें परिणत नहीं हो सकता, क्योंकि साधु-सङ्ग एक क्रिया-विशेष है। यह भक्तिका निमित्त-कारण हो सकता है क्योंकि साधु-सङ्गके प्रभावसे भक्तिका उन्मेष होता है। साधु-सङ्ग भी साधन-भक्तिके अन्तर्भुक्त है—इस दृष्टिसे भी यह भक्तिका बीज नहीं हो सकता, भक्ति-लताके पुष्टि-साधनमें निमित्त कारण हो सकता है। साधु-सङ्गसे साधुकी कृपा—महत्कृपा—प्राप्त होती है। महत्कृपासे भजनमें प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। महत्कृपा ही भजन-प्रवृतिके रक्षण, पुष्टि और वृद्धिका साधन करती रहती है। इसीलिये महत्कृपाके आश्रित भजन-प्रवृत्ति ही भक्ति-लताका बीज है। किसके लिये भक्तियोग सिद्धिप्रद है, यह बात श्रीमद्भागवतके **'यद्दृच्छया मत्कथादौ...'** इत्यादि ११।२०।८ श्लोकमें बतायी गयी है। इस श्लोककी टीकामें श्रीजीव-गोस्वामीने बताया है—"**यद्दृच्छया केनापि परमस्वतन्त्रभगवद्भक्तसङ्ग-तत्कृपाजातमङ्गलोदयेन**--परम स्वतन्त्र भगवद्भक्तके सङ्ग द्वारा, उस भगवद्-भक्तकी कृपासे जिसके किसी सौभाग्यका उदय हुआ है, उसी व्यक्तिका भक्तियोग सिद्धिप्रद है।" भक्तिरसामृतसिन्धुमें बताया है—"अति-धन्य-व्यक्तिके' साधना-भिनिवेशसे एवं कृष्णकृपासे या कृष्णभक्तकृपासे रतिका उदय होता है। १।३।५" यहाँपर 'अति धन्य' शब्दकी टीकामें श्रीजीवगोस्वामीने लिखा है—"**अति-धन्यानां प्राथमिकमहत्सङ्गजातमहाभाग्यानां**—" आरम्भमें ही महत्-सङ्गजात महाभाग्यका उदय जिनके अंदर हुआ है, साधानाभिनिवेशादिसे उनके ही चित्तमें रतिका उदय होता है। यहाँपर आरम्भसे ही अर्थात् भजनारम्भके पूर्वसे ही महत्कृपाकी अपरिहार्यताकी बात पायी जाती है ? यह महत्कृपा कृष्ण-भक्तिका निमित्त-कारण है। साधुसङ्गसे महत्-कृपाके फलरूपमें ही कृष्णभक्तिके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है **'सतां प्रसङ्गान्ममवीर्यसंविदः'** इत्यादि (श्रीम० भा० ३।२५।२४) साधुसङ्गे कृष्णभक्त्यै श्रद्धा यदि हय' इत्यादि (चै० च० म० २२।३१) और उससे ही भजनमें प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और महत्-कृपाकी शक्तिसे ही साधनभक्तिके अनुष्ठानके साथ-साथ यह भजनप्रवृत्ति क्रमशः परिपुष्ट और परिवर्द्धित होकर निष्ठा, रुचि, आसक्ति आदि स्तरोंमें परिणत होती है और इसके पश्चात् शुद्धसत्वके साथ तादात्म्यको प्राप्त होकर कृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी सेवा-

वासनारूप प्रेममें परिणत होती है। भजनारम्भके पूर्वसे ही अथवा भजनके प्रारम्भसे ही इस प्रकारकी महत्-कृपाके प्रति दृष्टि रखकर कहा गया है—
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता-बीज— गुरुकृपासे या कृष्णकृपासे इस भक्ति-लताका बीज उपलब्ध होता है। 'गुरुकृष्णप्रसाद' कहनेसे यहाँ महत्-कृपाकी ओर ही संकेत है। महत्के लक्षण गुरुके लक्षणके ही अन्तर्भुक्त हैं। गुरुके लक्षण जिनमें हैं, महत्के लक्षण भी उनमें हैं; अतएव गुरुकृपा भी महत्-कृपा ही है। और कृष्णकृपा साधारणतया दो प्रकारसे अभिव्यक्त होती है—

कृष्ण यदि कृपा करे कोन भाग्यवाने। गुरु-अन्तर्य्यामी रूपे शिखाय आपने॥
(चै० च० म० २२।३०)

श्रीकृष्ण कृपा करते हैं गुरुरूपसे और अन्तर्यामीरूपसे। गुरुकृपाकी बात पहले कही जा चुकी है। अन्तर्यामी या चैत्यगुरुका संकेत जीव साधारणतया समझ नहीं पाता, इसलिये श्रीकृष्ण महापुरुषस्वरूपके द्वारा ही जीवके ऊपर कृपा किया करते हैं।

जीवे साक्षात् नाहिं ताते गुरु चैत्यरूपे। शिक्षागुरु हय कृष्ण महान्त स्वरूपे॥
(चै० च० आ० १।२९)

अतएव गुरुकृपा और कृष्णकृपाका महत्-कृपामें ही पर्यवसान होता है और इस प्रकार अर्थ न करनेसे पूर्वोल्लिखित **'परमस्वतन्त्रभगवद्भक्तसङ्गतत्-कृपाजातमङ्गलोदयेन'** एवं **'प्राथमिक महत्सङ्गजातमहाभाग्यानामित्यादि'** वाक्यकी संगति नहीं होती।

इस प्रकारसे साधुसङ्गके द्वारा, महत्-कृपाके फलस्वरूप कृष्णभक्तिमें जीवकी जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, भजनमें जीवकी जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, वही उसका सौभाग्य है। साधनभक्तिके अधिकार-वर्णनमें भक्तिरसामृतसिन्धुमें लिखा है—

"यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने। इत्यादि १।२।६ बड़े भाग्यसे श्रीकृष्णसेवामें जिनकी श्रद्धा उत्पन्न हुई है" इत्यादि—वे भक्तिके अधिकारी हैं। इस श्लोककी टीकामें श्रीजीवगोस्वामीने लिखा है—**"अतिभाग्येन महत्सङ्गादि जातसंस्कारविशेषेण**—महत्-सङ्गादिजात संस्कार-विशेष ही यहाँपर 'भाग्य' शब्दसे लक्षित हुआ है।" अतएव साधुसङ्ग— साधुकृपाके प्रभावसे

उत्पन्न कृष्णभक्तिके प्रति श्रद्धा एवं भजनमें प्रवृत्ति आदि ही जीवका सौभाग्य है। आलोच्य पयारमें **'भाग्यवान् जीव'** कहनेसे महत्कृपाके द्वारा कृष्णभक्तिमें श्रद्धादिरूप भाग्य जिनका उदय हो गया है, उन्हींकी ओर संकेत किया गया है। यह भाग्य हुआ महत्-कृपाका फल या कार्य और महत्-कृपा या कृष्ण-प्रसाद हुआ उसका कारण। किंतु आलोच्य पयारके यथाश्रुत अर्थसे लगता है कि **'भाग्य'** है कारण और **'गुरु-कृष्ण-प्रसाद'** हुआ उसका कार्य। यह यथाश्रुत अर्थ विचार-संगत नहीं है; कारण, गुरुकृष्ण-प्रसाद या महत्-कृपा है अहैतुकी—उसका कोई भी कारण नहीं हो सकता, जीवका किसी भी प्रकारका भाग्य इसका हेतु नहीं हो सकता। तथापि, इस पयारमें कार्यका कारणरूपसे एवं कारणका कार्यरूपसे उल्लेख करनेका हेतु यही है कि यह एक प्रकारका अतिशयोक्ति अलंकार है। इसमें कार्य-कारणका विपर्यय होता है। **"आदौ कारणं विनैव कार्योत्पत्तिः पश्चात् कारणोत्पत्तिरयमेव कार्यकारणयोर्विपर्ययस्तत्र चतुर्थी अतिशयोक्तिर्ज्ञेया।** अलंकारकौस्तुभ। ८।१५ की टीकामें चक्रवर्ती।" कार्य अति शीघ्र ही उपस्थित होगा, इस अतिशयोक्ति द्वारा यही सूचित होता है। **"तद्विपर्ययेणोक्तिः कार्यस्यातिशैघ्र्यबोधिन्यतिशयोक्तिश्चतुर्थी ज्ञेया।** श्रीम० भा० १०।५२।५३ श्लोककी टीकामें चक्रवर्ती।" तात्पर्य यही है कि महत्-कृपा होनेपर कृष्णभक्तिमें श्रद्धादिरूप सौभाग्य अतिशीघ्र ही आकर उपस्थित होगा।

माली हञा करे सेइ बीज आरोपन।
श्रवण-कीर्तन-जले करये सेचन ॥१३४॥

बस, इसी बीजको आरोपित करता है साधक माली बन।
फिर श्रवण-कीर्तनके जलसे करता है उसका वह सिञ्चन॥

बगीचेका माली जिस प्रकार किसी भी फलका बीज बोकर उसको अङ्कुरित करनेके उद्देश्यसे उसमें जल सींचता है, उसी प्रकार जिस भाग्यवान् जीवको गुरु-कृष्ण-

प्रसादसे भक्ति-लताका बीज प्राप्त होता है, वह भी उसको बोकर श्रवण-कीर्तन-रूप जलसे सींचता है।

आरोपन—बोना। फलका बीज बोया जाता है मिट्टीमें। भक्ति-लताका बीज कहाँ बोओगे? चित्तमें। सत्सङ्गके प्रभावसे जो साधारण भजनप्रवृत्ति उत्पन्न होती है—यह भजनप्रवृत्ति ही भक्ति-लताका बीज है—उसको चित्तमें जाग्रत् रखना होगा। फलके बीजको मिट्टीमें ढँककर रखना ही बीज बोना है। भक्ति-लताके बीजकी भी चित्तरूपी मिट्टीसे रक्षा करनी होगी, जिससे यह चित्तसे सरक न जाय– हट न जाय। श्रवण-कीर्तनादिका अनुष्ठान ही भक्ति-लताके बीजमें जल सींचना है। जल-सिञ्चनके गुणसे फलका बीज जैसे अङ्कुरित होता है, अङ्कुरित होकर वर्द्धित और परिपुष्ट होता है, उसी प्रकार श्रवण-कीर्तनादिके अनुष्ठानके फलरूपमें भक्ति-लताका बीज भी अङ्कुरित होकर क्रमशः वर्द्धित और परिपुष्ट होता रहता है। बीजको मिट्टीमें बोये बिना एवं बोकर उसमें जल सींचे बिना जैसे उसमें-से अङ्कुर नहीं निकलता, बल्कि वह नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सत्सङ्गके प्रभावसे भजनकी जो इच्छा होती है, उसको यदि हृदयमें धारण करके न रक्खा जाय और धारण करके नियमितरूपसे श्रवण-कीर्तनादि न किये जायँ तो वह भजनेच्छा बलवती नहीं होगी, बल्कि क्रमशः वह लुप्त हो जायगी।

उपजिया बाढ़े लता—ब्रह्माण्ड भेदि जाय।
विरजा ब्रह्मलोक भेदि परव्योम पाय॥१३५॥

हो भक्ति-लता उत्पन्न, भेद ब्रह्माण्ड चली जाती ऊपर।
कारण-समुद्र, अज-लोक भेद, परव्योम पहुँचती है बढ़कर॥

उपजिया—उत्पन्न होकर। **लता**—भक्ति-लता। श्रवण-कीर्तनादिरूप जल-सिञ्चनके प्रभावद्वारा बोये हुए भक्ति-लताके बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होता है और यह अङ्कुर ही वर्द्धित होकर भक्ति-लतामें परिणत होता है। जलसिञ्चनके प्रभावसे यह लता क्रमशः बढ़ती रहती है, बढ़ते-बढ़ते **ब्रह्माण्ड भेदि जाय**—ब्रह्माण्डको

भेद करके, अतिक्रमण करके ऊपरकी ओर उठती रहती है। कोई भी प्राकृत लता जब बढ़ती है, तब केवल ऊपरकी ओर ही उठती रहती है। किसी ऐसे आश्रयके (जो उसकी गतिको रुद्ध करदे,) मिलनेपर बढ़ती-बढ़ती भी उस आश्रयसे लिपट जानेपर और ऊपर नहीं उठ सकती। प्राकृत ब्रह्माण्डमें स्वर्गलोक, तपोलोक, सत्यलोक प्रभृति भोगलोक हैं। कर्मफलके अनुसार जीव इन्हीं सब लोकोंमें आकर रहता है। श्रवण-कीर्तनादिरूप सिञ्चनका जल पाकर भक्ति-लता बढ़ती-बढ़ती इन समस्त भोगलोकोंका अतिक्रमण करके चली जाती है। भावार्थ यह है कि जिनके चित्तमें भक्तिका उद्रेक हुआ है, उनको किसी भी भोगलोकोंके सुखभोगका आकर्षण मुग्ध नहीं कर सकता। उनके मनकी गति प्राकृत ब्रह्माण्डको छोड़कर अप्राकृत भगवद्धामकी ओर जाती है। भक्तिके प्रभावसे उनके सब कर्मफल नष्ट हो जाते हैं, इसलिये कोई भी भोगलोक भक्तिद्वारा पवित्र हुए उनके चित्तकी ऊर्ध्वगतिमें बाधा नहीं दे सकते।

विरजा भेदि—विरजाको भेदकर भक्ति-लता चली जाती है। विरजा नाम है कारणसमुद्रका। महाप्रलयके समय सूक्ष्मरूपसे जीव इसी कारणसमुद्रमें कर्मफलका आश्रय लेकर रहता है। भक्ति-लता इस कारणसमुद्रका भी अति-क्रमण करके—लाँघकर चली जाती है, कारणसमुद्रमें भी किसी भी वस्तुका आश्रय करके नहीं रह जाती। भावार्थ यह है कि जिनके मनमें भक्तिका उन्मेष हुआ है, उनके सब कर्मफल नष्ट हो जाते हैं, (श्रीम० भा० ११।१४।१९ ; भ० र० सि० १।१।१५)। अतएव महाप्रलयमें भी उनको कर्मफलका आश्रय लेकर विरजामें नहीं रहना पड़ता ; क्योंकि उनके कर्मफल हैं ही नहीं।

ब्रह्मलोक भेदि—ब्रह्मलोकको भी भेदकर भक्ति-लता चली जाती है। विरजा और परव्योमके मध्यवर्ती ज्योतिर्मय धामको ब्रह्मलोक या सिद्धलोक कहते हैं। जो लोग ज्ञानमार्गका साधन करके सायुज्य-मुक्तिके अधिकारी होते हैं अथवा जितने भी दैत्य श्रीहरिके द्वारा मारे जाते हैं, वे इस नित्यधाममें सूक्ष्म जीवस्वरूपसे रहते हैं। भक्ति-लता इस ब्रह्मलोकको भी भेदकर चली जाती है, यहाँ भी ठहरती नहीं। भावार्थ यह है कि जिनके प्रति भक्ति महारानीकी कृपा हो चुकी है, उनको ब्रह्मलोक या ब्रह्मानन्दका मोह भी मुग्ध नहीं कर सकता।

ब्रह्मानन्द हइते पूर्णानन्द कृष्णगुण। अतएव आकर्षये आत्मारामेर मन ।।
(चै० च० म० १७।१३१)

विशेषतः सायुज्य-मुक्तिके अधिकारी लोग कृष्णसेवासे वञ्चित हैं।

परव्योम—ब्रह्मलोक और कृष्णलोकके मध्यवर्ती भगवद्धामका नाम है परव्योम। वैकुण्ठ, शिवलोक प्रभृति सब भगवद्धाम इसी परव्योममें अवस्थित हैं। श्रीकृष्णकी विलासमूर्ति नारायण इस परव्योमके अधिपति हैं। सार्ष्टि, सारूप्य, सालोक्य और सामीप्य—इन चार प्रकारकी मुक्तिके अधिकारी लोग इसी परव्योमको प्राप्त होते हैं। भक्ति-लता इस परव्योमका भी अतिक्रमण करके चली जाती है। भावार्थ यह है कि शुद्धाभक्तिकी कृपा होनेपर साधक चतुर्विध मुक्तिकी भी कामना नहीं करता, श्रीकृष्ण-सेवाके बिना इस चतुर्विध मुक्तिको दिये जानेपर भी वे ग्रहण नहीं करते।

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ (श्रीम० ३।२९।१३)

तबे जाय तदुपरि गोलोक वृन्दावन।
कृष्ण-चरण-कल्पवृक्षे करे आरोहण ॥१३६॥

उसके ऊपर गोलोक-धाम, वृन्दावनतक फिर जाती बढ़।
श्रीकृष्ण-चरण-कल्पद्रुमपर वह वहाँ पहुँचकर जाती चढ़॥

तबे—परव्योमको छोड़कर। **तदुपरि**—परव्योमके ऊपर। **गोलोक-वृन्दावन**— श्रीकृष्णलोक, व्रजलोक। **कृष्ण-चरण-कल्पवृक्ष**—वृक्षके आश्रयके बिना लता नहीं रह सकती। सब प्रकारकी लताएँ सब प्रकारके वृक्षोंका आश्रय नहीं लेतीं। अनुकूल वृक्षको ही लता आश्रय बनाती है। भक्ति-लता—ब्रह्माण्ड, विरजा, ब्रह्मलोक, परव्योम—इनमेंसे किसी भी स्थानमें अनुकूल वृक्ष न पाकर व्रजलोकमें आकर उपस्थित होती है, और यहाँपर श्रीकृष्णके चरणरूप कल्प-वृक्षका आश्रय लेती है। श्रीकृष्णचरण कल्पवृक्ष-सदृश हैं, क्योंकि ये सर्वाभीष्टप्रद हैं।

ताहाँ विस्तरित हञा फले प्रेमफल।
इहाँ माली सेचे नित्य श्रवणादि जल॥१३७॥

जा वहाँ फैलती लता, प्रेमरूपी फिर उसमें लगता फल।
है यहाँ नित्य सिञ्चन करता वह माली दे श्रवणादिक जल॥

ताहाँ—श्रीकृष्ण-चरणरूप कल्पवृक्षपर। इस वृक्षका अवलम्बन करके भक्ति-लता विस्तारित होती है, इसीके आश्रयमें पुष्पित एवं फलित होती है। श्रीकृष्णप्रेम ही इस भक्ति-लताका फल है। भावार्थ यह है कि भक्ति जब श्रीकृष्ण-चरणोन्मुखी होती है, तभी श्रीकृष्णकृपासे श्रीकृष्णप्रेम उत्पन्न हो सकता है। यह प्रेम श्रीकृष्ण-कृपा-सापेक्ष है, कल्पवृक्ष-शब्दके द्वारा यह सूचित होता है। और इस कल्पवृक्ष-शब्दके द्वारा यह भी सूचित होता है कि श्रीकृष्ण इस कृपासे किसीको भी वञ्चित नहीं करते।

इहाँ—इस स्थानपर—जिस स्थानपर भक्ति-लताका बीज बोया गया है, उस स्थानपर, लताकी जड़में ; साधक-देहमें। **माली**—साधक। **सेचे नित्य** इत्यादि—माली नित्य ही श्रवणादि जल लताकी जड़में सींचता है अर्थात् भक्ति-अङ्गका अनुष्ठान करता रहता है।

साधकको नित्य ही श्रवण-कीर्तनादि भजनाङ्गका अनुष्ठान करना होगा—यही इस पयारमें बताया गया है। भक्तिको लता कहनेका उद्देश्य यही है। भक्तिको लता बताया गया है, वृक्ष नहीं। इसका उद्देश्य यह है- पहले तो वृक्ष जब छोटा-सा पौधा होता है, तब गाय-बकरी आदिसे उसकी रक्षा करनेके लिये उसके चारों ओर आवरण या 'बाड़ लगानी होती है। वृक्ष बड़ा होनेके बाद बाड़की आवश्यकता नहीं रहती, तब गाय-बकरी उसका कोई भी अनिष्ट नहीं कर सकती। किंतु लताके लिये ऐसी बात नहीं है। लता सर्वदा सूक्ष्म और कोमल रहती है। सब समय, यहाँतक कि बूढ़ी हो जानेपर भी गाय-बकरी आदि आसानीसे उसको तोड़ सकती हैं, अथवा उसकी जड़ उखाड़कर फेंक दे सकती हैं। इसीलिये सर्वदा ही बाड़ लगाकर उसकी रक्षा करनी होगी।

भक्तिकी भी सर्वदा अपराधादिसे रक्षा करनी होगी। सिद्धभक्त भी अपराधसे छुटकारा नहीं पाते। उनको सर्वदा ही सावधान रहनेकी आवश्यकता है। इसीलिये भक्तिको लता कहा गया है। सर्वदा ही उसकी जड़में बाड़की दरकार है। अपराधसे सावधान रहना ही इसकी बाड़ है। दूसरे, वृक्ष बड़ा होनेपर उसकी जड़में जल सींचनेकी आवश्यकता नहीं रहती ; किंतु लता कोमल है, उसकी जड़में मिट्टी भी सब समय भीगी और कोमल रखनी होगी। नहीं तो, रसके अभावमें लता सूख जायगी। भक्तिका स्वभाव भी ऐसा ही है। श्रवण-कीर्तनादिरूप जल न मिलनेसे भक्ति-लता सूखकर मर जाती है। फलवती लताकी जड़में भी जल सींचना आवश्यक है।

वैष्णवापराध

यदि वैष्णव-अपराध उठे हाथी माता।
उपाड़े वा छिंडे, तार शुकि जाय पाता॥१३८॥

यदि है वैष्णव-अपराध रूप आ जाता हाथी मत्त कभी।
देता उखाड़ या तोड़ इसे पत्रावलि जाती सूख सभी॥

यदि वैष्णव-अपराध-इत्यादि। लताके रक्षण और वर्द्धनके लिये तीन वस्तुएँ आवश्यक होती हैं ; (१) मूलमें जल-सिञ्चन, (२) कोई भी जीव इसको नष्ट न करदे, इसके लिये इसके चारों ओर आवरण अर्थात् बाड़ लगाना, और (३) लताके ऊपर कोई भी उपशाखा न चढ़ जाय, उसके लिये सावधानी रखना, क्योंकि उपशाखा चढ़ जानेसे जल-सिञ्चनके द्वारा उपशाखा ही बढ़ती जायगी, मूल लता नहीं बढ़ पायगी। भक्ति-लताके मूलमें श्रवण-कीर्तनादि-रूप जल सींचनेकी आवश्यकताकी बात पूर्ववर्ती पयारमें कही जा चुकी है। अब इस पयारमें और परवर्ती पयारमें, दो पयारोंमें आवरणकी बात बतायी जाती है।

वैष्णव-अपराध—किसी भी वैष्णवके प्रति अपराध। किसी भी वैष्णवके प्रति प्रहार करनेसे, द्वेष करनेसे, उसकी निन्दा करनेसे, अनादर करनेसे, अथवा

क्रोध करनेसे अथवा वैष्णवको देखकर हर्ष-प्रकाश न करनेसे वैष्णवापराध होता है।

"हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति।
क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्॥" (ह०म०वि० १०।२।३६)

जाति-बुद्धिके कारण अथवा अन्य किसी भी कारणसे किसी भी वैष्णवके प्रति वैष्णवोचित सम्मान प्रदर्शित न होनेसे अपराध होगा। वैष्णव होनेपर भी अवैष्णवोचित आचरण यदि किसी वैष्णवमें देखनेमें आये, तो भी ऐसे आचरणके लिये उनके प्रति मनमें किसी भी प्रकारकी अश्रद्धा या अवज्ञाका भाव आनेसे अपराध होगा। वैष्णव यदि सुदुराचारी भी हो, तो भी किसी भी प्रकारकी दोषदृष्टि न करके उनके प्रति वैष्णवोचित सम्मानादि कायमनोवाक्यसे होना चाहिये। क्योंकि सुदुराचारी होनेपर भी वे साधु हैं—यह बात गीतामें श्रीभगवान्‌ने कही है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥ (गी० ९।३०)

ऐसे सुदुराचारी व्यक्तिको भी साधु कहनेका कारण यह है कि प्रारब्धके कारण (अवसर उपस्थित होनेसे) **अनन्य-भजन-परायण** रहनेवाले व्यक्ति भी (पूर्व अशुभ संस्कारवश कभी-कभी) दुष्कर्ममें प्रवृत्त हो जाया करते हैं; किंतु दुष्कर्म बननेके कारण वे सर्वदा ही अनुतप्त रहते हैं, दुष्कर्मसे अपनी रक्षाके निमित्त वे कातर-प्राण हुए भगवान्‌से कृपाकी भीख भी माँगते रहते हैं और स्वयं भी यथासम्भव दुष्कर्मसे बचनेकी चेष्टा करते रहते हैं, तो भी पूर्व संस्कारके आवेशसे दुष्कर्ममें कभी-कभी लग जाते हैं। अपने तीव्र अनुताप, चेष्टा और भगवत्-कृपाके फलस्वरूप वे 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। (गी० ९।३१)'—शीघ्र ही धर्मात्मा होकर परम शान्ति प्राप्त करते हैं, उनका सुदुराचारत्व शीघ्र ही दूर हो जाता है। जो हो, दुष्कर्मसे घृणा की जाय, दुष्कर्मकारीसे नहीं। साथ ही उसके संशोधनकी चेष्टा भी करनी चाहिये। चिकित्साके लिये रोगीके शरीरमें अस्त्रोपचार करनेसे उस समय रोगीको कष्ट अवश्य होता है, किंतु परिणाममें उसका मङ्गल होता है; इसलिये अस्त्रोपचार दूषित नहीं माना जाता। इसी

प्रकार किसीके संशोधनके सदुद्देश्यसे कोई भी कार्य या आचरण करनेपर यदि उस समय उसके मनको कष्ट होनेकी सम्भावना हो, तो भी संशोधनकी चेष्टा असंगत नहीं होती। संशोधनके सदुद्देश्यद्वारा प्रेरित आचरणसे किसीके भी मनको कष्ट देना अपराध नहीं होगा। प्रभुके प्रति दामोदर पण्डितके वाक्य-दण्डादि इसके प्रमाण हैं (अन्त्यलीला–तृतीय परिच्छेद)। किंतु किसी भी प्रकारकी क्षति पहुँचानेके लिये कहे गये वाक्यसे या किये गये कार्यसे या आचरणसे किसी भी वैष्णवके मनको कष्ट देनेसे ही अपराध होगा।

अपराध-विचारके लिये किसको वैष्णव माना जाय, इस प्रकारका एक प्रश्न उठ सकता है। इसके लिये श्रीमान् महाप्रभुके द्वारा जिनका सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है, उन्हींको वैष्णव मानना होगा।

प्रभु कहे—जार मुखे शुनि एक वार। कृष्णनाम, सेइ पूज्य श्रेष्ठ सवाकार॥

(चै० च० म० १५।१०७)

जिसके मुखसे केवल एकबार 'कृष्ण' नाम सुना जाय, वे भी वैष्णव हैं, उनके प्रति भी अपराधकी सम्भावना है। प्रभुने बताया है कि वे भी पूज्य—पूजाके योग्य हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं। अतएव उनकी पूजा करना, उनको वैष्णवोचित सम्मान देना नितान्त आवश्यक है। सतर्कता जितनी ही अधिक और व्यापक रक्खी जाय, उतनी ही विपत्तिकी आशङ्का कम रहेगी। वैष्णव-अपराध बड़ी ही सांघातिक वस्तु है। उसके प्रक्षालनका उपाय यही है कि जिनके प्रति अपराध हो, उनको जिस प्रकारसे भी हो संतुष्ट करके, उनसे क्षमा याचना की जाय। वे क्षमा कर दें, तभी रक्षा हो सकती है, नहीं तो कोई उपाय नहीं। किंतु किसके प्रति अपराध बना है, यह जाना न जा सके तो एकान्त भावसे श्रीहरिनामका आश्रय लेना चाहिये। हरिनाम-कीर्तन करते-करते नामकी कृपा होनेसे अपराधका खण्डन हो सकता है। वैष्णव-वन्दना, वैष्णव-सेवादिके द्वारा भी अपराध-खण्डन हो सकता है। किंतु, किनके प्रति अपराध हुआ है, वह ज्ञान रहनेपर भी यदि कोई अभिमानादिके वश होकर उनके पास स्वयं जाकर क्षमा याचना न करे तो नामादिका आश्रय लेनेपर, नामादिके प्रभावसे उनका अपराध-खण्डन होगा या नहीं,

इसमें संदेह है ; क्योंकि उसमें अभिमान वर्तमान रहनेपर उसके प्रति नामकी कृपा होगी, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

इस पयारमें 'वैष्णवापराध' शब्दद्वारा सेवापराध एवं नामापराधादि भी उपलक्षित हैं, कारण साधन-भक्तिके प्रसङ्गमें सेवापराध एवं नामापराधादिसे यत्नपूर्वक बचनेकी बात कही गयी है।

हाथी माता—माता (मत्त) हाथी। वैष्णवापराधको मत्त हाथी कहा गया है और भक्तिको लता। एक सामान्य बकरी भी लताको उखाड़ दे सकती है, तोड़ दे सकती है। फिर मत्त हाथीके लिये तो कहना ही क्या है। भावार्थ यह है कि भक्ति-अङ्गोंके अनुष्ठानकी शक्तिसे वैष्णवापराधकी शक्ति बहुत अधिक है। यदि वैष्णवापराध हो गया तो उस अपराधके फलस्वरूप भक्ति समूल उखड़ जायगी ; भले ही भक्तिके कितने भी अनुष्ठान होते रहें, किसीसे कुछ नहीं होगा। जिस प्रकार हाथी सरलतासे, बिना परिश्रमके लताको उखाड़ दे सकता है, उसी प्रकार वैष्णवापराध भी भक्तिका अनायास ही मूलोच्छेद कर देता है।

उपाड़े—भक्ति-लताकी मूल अर्थात् जड़ उखाड़ फेंक देता है। **छिंडे**—भक्ति-लताको छिन्न-भिन्न कर देता है। **तार**—भक्ति-लताका। **शुकि जाय पाता**—जड़ उखड़ जानेसे अथवा स्वयं उसके छिन्न-भिन्न हो जानेसे भक्ति-लताके पत्ते सूख जाते हैं। भक्ति-लता फिर सजीव नहीं रहती।

ताते माली यत्न करि करे आवरण।
अपराध-हस्ती जैछे ना हय उद्गम ॥१३९॥

अतएव लगाता है माली आवरण चतुर्दिक कर प्रयास।
अपराध-रूप हाथी जिससे पाये न फटकने कभी पास॥

माली—साधक। **यत्न करि**—भक्ति-लता किसीके द्वारा भी जिससे नष्ट न हो सके, उसके लिये अत्यन्त सतर्क अर्थात् सावधानी रहे। **आवरण करे**—बाड़ लगा दे ; अपराधसे सावधानी ही बाड़ है।

अपराध-हस्ती—अपराध-रूपी हाथी। **ना हय उद्गम**--प्रकट न हो सके। अपराध न बन जाय इसके लिये विशेष सतर्क अर्थात् सावधान रहे।

भक्तिलताकी उपशाखाएँ

किंतु यदि लतार अङ्गे उठे उपशाखा।
भुक्ति-मुक्ति-वाञ्छा जत—
असंख्य तार लेखा ॥१४०॥

यदि किंतु लताके तनपर हैं उगने लगती उपशाखाएँ।
जो भुक्ति-मुक्ति-वाञ्छादिक-मय इतनी कि न गिननेमें आयें॥

निषिद्धाचार, कूटिनाटि, जीव-हिंसन।
लाभ-प्रतिष्ठादि जत उपशाखागण ॥१४१॥

आचार निषिद्ध, कुतर्क, जीवकी हिंसा, लाभ, प्रतिष्ठादिक।
ये सब उपशाखाएँ, जिनसे वह मूल लता जाती है छिक॥

सेकजल पाञा उपशाखा बाड़ि जाय।
स्तब्ध हञा मूल शाखा बाड़िते ना पाय॥१४२॥

जलसे सिञ्चित हो पुनः-पुनः उपशाखावलि बढ़ती जाती।
रुँध जाती है शाखा प्रधान इतनी कि न आगे बढ़ पाती॥

किंतु यदि लतार अङ्गे—इन उपर्युक्त पयारोंमें उपशाखाकी बात बतायी गयी है। **उपशाखा**—शाखासे जो शाखा निकले, साधारणतया उसीको उपशाखा कहते हैं। यह उपशाखा मूल वृक्षका ही अङ्ग होती है। इनकी पुष्टिसे मूल वृक्ष ही पुष्ट होता है। यहाँपर भक्ति-लताकी उपशाखा कहनेमें

इस प्रकारकी शाखाकी शाखाका लक्ष्य नहीं किया गया है ; क्योंकि ऐसा होनेसे इस उपशाखाकी पुष्टिसे मूल लताकी पुष्टि स्थगित नहीं होती। किसी-किसी वृक्षकी शाखापर और एक प्रकारका लताजातीय पौधा देखनेमें आता है, जिसको साधारणतया पराश्रयी पौधा कहते हैं। यह पराश्रयी पौधा मूल वृक्षसे रस आकर्षण करके अपना पुष्टि-साधन करता है, जिसके कारण रसाभावसे मूल वृक्षका अनिष्ट होता है। यहाँपर भक्ति-लताकी उपशाखा कहनेमें इसी जातिके पराश्रयी पौधेकी बात कही गयी है। साधक माली भक्ति-लताकी जड़में श्रवण-कीर्तनादि जल-सिंचन करते हैं उस जलको यह उपशाखा या पराश्रयी पौधा मूल-लताके शरीरसे आकर्षित करके अपना पुष्टि-साधन करता है और जलके अभावमें मूल-लता आगे पुष्ट नहीं हो पाती। भक्ति-लताके सम्बन्धमें ये उपशाखाएँ कौन-सी हैं ? भुक्ति-मुक्ति-वासना आदि अनन्त स्वसुख-वासनाएँ, निषिद्धाचार, कुतर्क अर्थात् कुटिलता, जीव-हिंसा, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठादि—ये सभी भक्ति-लताकी उपशाखाएँ हैं। भावार्थ यह है कि इन सबके रहते हुए साधककी भक्ति पुष्ट नहीं हो पाती।

भुक्ति-मुक्ति-वाञ्छा—स्वर्गादि भोगोंकी और सालोक्यादि मुक्तिकी वासना, सभी प्रकारकी स्वसुख वासना। इस प्रकारकी वासनाओंका कोई अन्त नहीं है। सब प्रकारकी दुर्वासनाएँ ही उपशाखाएँ हैं।

निषिद्धाचार—शास्त्र-निषिद्ध या सदाचार-निषिद्ध आचार। **कुटिनाटि**—सब विषयोंमें कुतर्क अथवा कुटिलता। **जीव-हिंसा**—प्राणियोंकी हिंसा ; वृक्ष-लतादि भी प्राणी हैं, यह स्मरण रखना चाहिये।

लाभ—धनादि-प्राप्तिकी वासना या चेष्टा। **प्रतिष्ठा**—सुख्याति या सम्मान-प्राप्तिकी वासना या चेष्टा।

सेकजल—श्रवण-कीर्त्तनादि। **उपशाखा बाड़ि जाय**—दुर्वासना-रूप उप-शाखा बढ़ती जाती है, अधिकतर पुष्टिलाभ करती है।

श्रवण-कीर्त्तनादि भजनाङ्गोंका अनुष्ठान करते-करते यदि किसी भी प्रकारकी दुर्वासनाने मनमें स्थान पा लिया और उसको दूर करनेके लिये यदि साधक प्रयत्न न करे तो इन कीर्त्तनादिके फलस्वरूप भक्तिकी पुष्टि न होकर दुर्वासनाकी ही पुष्टि

सिद्ध होती है। एक दुर्वासनाके साथ दस और आकर उपस्थित होती हैं। फिर अनुसंधान करनेपर पता चलता है कि मनमें सर्वत्र दुर्वासना भरी पड़ी है; दुर्वासनाके अतिरिक्त भक्तिवासना सम्भवतः कहीं खोजनेपर भी न मिले। यद्यपि श्रवण-कीर्त्तनादि सभी कुछ नियमानुसार यन्त्रकी तरह—अभ्यासके कारण—चल रहा हो, तो भी साधकको जिस प्रकार यत्नपूर्वक अपराधादिसे दूर रहना चाहिये दुर्वासनासे भी उसी प्रकार दूर रहना पड़ेगा। विषयासक्त चित्तमें दुर्वासना अपने-आप ही आकर उपस्थित हो सकती है। किंतु दुर्वासनाके उपस्थित होते ही भगवत्-कृपापर निर्भर करके उसको दूर भगा देनेके लिये यत्न और अध्यवसाय करना पड़ेगा।

यत्नाग्रह विना भक्ति ना जन्माय प्रेमे। (चै० च० म० २।११५)

दुर्वासना ही दुस्सङ्ग है।

दुस्सङ्ग कहिये कैतव आत्मवञ्चना। कृष्ण कृष्णभक्ति विना अन्य कामना॥

(चै० च० म० २४।७०)

इस दुस्सङ्गका सर्वथा त्याग करना पड़ेगा, नहीं तो शुद्धाभक्तिकी कृपा दुर्लभ होगी।

कामादि दुस्सङ्ग छाड़ि शुद्ध भक्ति पाय। (चै० च० म० २५।६९)

स्तब्ध—स्तम्भित—जिसकी गति और वृद्धि स्थगित हो गयी है, जो बढ़े भी नहीं और पुष्ट भी न हो।

मूलशाखा—भक्ति-लता। जल-सिञ्चनसे ही लताकी पुष्टि होती है; किंतु जब उपर्युक्त पराश्रयी पौधा ही सारे रसका आकर्षण कर लेता है, तब मूललताकी आगे पुष्टि नहीं हो सकती।

प्रथमेइ उपशाखार करिये छेदन।
तबे मूलशाखा बाड़ि जाय वृन्दावन॥१४३॥

इसलिये चाहिये कर देना पहले ही उपशाखा - छेदन।
तब पहुँच मूल शाखा जाती, ऊपर चढ़, बढ़कर, वृन्दावन॥

प्रथमेइ—भजनके आरम्भसे ही। **उपशाखार करिये छेदन**—दुर्वासनाका उच्छेद करना चाहिये।

तबे मूलशाखा इत्यादि—तब मूलशाखा भक्ति-लता ऊपर चढ़कर वृन्दावन पहुँच जाती है।

प्रेम फल पाकि पड़े—माली आस्वादय।
लता अवलम्बि माली कल्पवृक्ष पाय॥१४४॥

पककर गिरता फल प्रेमरूप, माली करता है आस्वादन।
कृष्णाङ्घ्रि-कल्पतरु पा करता वह ग्रहण लताका अवलम्बन॥

लता अवलम्बि—भक्ति-लताको पकड़े-पकड़े। **कल्पवृक्ष**—श्रीकृष्णचरण।

ताहाँ सेइ कल्पवृक्षेर करये सेवन।
सुखे प्रेमफल-रस करे आस्वादन॥१४५॥

फिर वहाँ उसी श्रीकृष्ण-चरण-कल्पद्रुमका करता सेवन।
सुखसहित प्रेमरूपी फलके रसका करता है आस्वादन॥

ताहाँ—वृन्दावनमें। **कल्पवृक्षेर करये सेवन**—भक्तिकी कृपासे प्रेम प्राप्त होनेपर जब साधक श्रीकृष्णचरणको प्राप्त कर लेगा, तब वह साक्षात् श्रीकृष्णसेवा कर सकेगा और उनके चरण-सेवा-जनित आनन्दका उपभोग कर सकेगा। यह साक्षात्-सेवा यथावस्थित देहसे जीवके द्वारा सम्भव नहीं होती। यथावस्थित देहसे तो जीवको प्रेमतक ही प्राप्त होता है। प्रेम प्राप्त होनेपर देहत्यागके उपरान्त श्रीकृष्णके प्रकट लीलास्थलमें किसी गोपीके घर उसका जन्म होता है। वहाँ नित्यसिद्ध श्रीकृष्ण-परिकरके सङ्गके प्रभावसे प्रेम-स्नेह-मान-प्रणय-राग-अनुरागादि प्रेम-विकासके भिन्न-भिन्न स्तर अपने-आप ही विकसित हो जाते हैं; फिर वह जीव साक्षात् श्रीकृष्णसेवा कर सकता है।

चारों पुरुषार्थोंकी तुच्छता

एइ त परम फल—परम पुरुषार्थ ।
जार आगे तृण-तुल्य चारि पुरुषार्थ ॥१४६॥

है यही परम-फल कहलाता, है इसे परम पुरुषार्थ कहा ।
है चतुर्वर्ग इसके आगे लघु तृण समान, है तुच्छ महा ॥

चारि पुरुषार्थ—काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष ।

काम—कुछ व्यक्ति केवल स्थूल इन्द्रियोंके भोग—आहार, कोमल शय्या, उपस्थकी तृप्ति—चाहते हैं । पशुओंकी ऐसी ही स्थिति है । मनुष्योंमें भी पशु-प्रकृतिके लोग हैं, वे शिश्नोदर-परायणताको छोड़कर साधारणतया और कुछ नहीं जानते । शिश्नोदर आदिकी तृप्तिके उपायके सम्बन्धमें भी वे विशेष सतर्क नहीं हैं—उनके द्वारा अवलम्बित उपाय शारीरिक, मानसिक, आर्थिक या सामाजिक दृष्टिसे समर्थनके योग्य हैं या नहीं—इस ओर भी उनका विशेष ध्यान नहीं रहता । उनका एक मात्र लक्ष्य होता है स्थूल इन्द्रियोंका सुख—चाहे किसी भी प्रकारसे हो । इस श्रेणीके लोगोंके पुरुषार्थ का नाम है **काम** ।

अर्थ—एक दूसरी श्रेणीके लोग हैं, जो इन्द्रिय-भोग चाहते हैं अवश्य, किंतु केवल स्थूल भोग नहीं चाहते । स्थूल भोगोंके लिये भी वे लोग भोगोंके उपायके सम्बन्धमें विवेचनशील हैं । शरीरका, मनका, एवं समाजका स्वास्थ्य उससे नष्ट न हो जाय—इस ओर भी उनकी दृष्टि है । उनकी भोग-चेष्टा एक नीति-पर प्रतिष्ठित है । इसलिये उनके नैतिक जीवनके अधःपतनकी सम्भावना बहुत कम होती है । कभी पदस्खलन होनेपर वे अनुतप्त होते हैं, एवं आत्म-शोधनकी चेष्टा करते हैं । वे संयमको खो देना नहीं चाहते और लोगोमें मान-सम्मान, ख्याति भी चाहते हैं ; इसीसे वे उच्छृङ्खलतासे दूर रहनेकी चेष्टा करते हैं, एवं जनहितकारी कार्योंमें भी यथासाध्य प्रवृत्त होनेकी चेष्टा करते हैं । किंतु इसके लिये अर्थकी आवश्यकता होती है । समाजकी ओर देखनेपर उल्लिखित

प्रकारकी जीवन-यात्रा चलाना पहला प्रधान लक्ष्य माना जा सकता है। इसलिये ऐसी श्रेणीके लोगोंके पुरुषार्थको कहते हैं **अर्थ**।

धर्म—एक और श्रेणीके लोग हैं, जो उल्लिखित द्वितीय श्रेणीके अनुरूप भोग भी चाहते हैं एवं और भी कुछ चाहते हैं। उल्लिखित सब भोग तो केवल इस लोकके भोग हैं। वे केवल यहाँके भोगोंसे तृप्त नहीं होते, मृत्युके बाद परलोकके स्वर्गादि-सुखभोगोंकी भी कामना करते हैं। पारलौकिक सुख-भोगके लिये धर्मानुष्ठानकी आवश्यकता है। वे मानते हैं और शास्त्र भी बताते हैं कि धर्म (स्वधर्म) के अनुष्ठानद्वारा ही इस लोक एवं परलोकके सुख भोग मिल सकते हैं। इसलिये स्वधर्मानुष्ठान ही उनका लक्ष्य होता है। इनके पुरुषार्थका नाम है **धर्म**।

मोक्ष—ऊपर जो तीन प्रकारके पुरुषार्थकी बात बतायी गयी, वे जीवकी चिरंतन सुख-वासनाके तीन रूप हैं। इन तीन प्रकारके पुरुषार्थका पर्यवसान होता है देहसुख या इन्द्रियसुखमें। स्वर्ग-सुख भी देहका सुख है। किंतु स्वर्ग-सुख-भोगके पश्चात् फिर इसी मृत्युलोकमें लौट आना पड़ता है—"**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**। —गीता ९।२१ (जिस पुण्यके फलरूपमें स्वर्ग-प्राप्ति होती है, उस पुण्यके क्षीण हो जानेपर फिर इसी लोकमें आना पड़ता है)।" इस संसारका सुख निरा सुख ही नहीं है, अपितु दुःख-मिश्रित है, परिणाममें दुःखमय और अनित्य है, अधिक-से-अधिक मृत्युतक स्थायी हो सकता है। इसके पश्चात् जन्म-मृत्युका दुःख, नरक-भोगका दुःख तो लगा है ही। इन सब विषयोंकी विवेचना करके जो उक्त तीनों पुरुषार्थोंके प्रति लुब्ध नहीं होते, ऐसे भी एक श्रेणीके लोग हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम होती है। वे सोचते हैं कि धर्म, अर्थ या काम जब वास्तविक निरवच्छिन्न सुख नहीं दे सकते, तब इनके प्राप्त करनेमें कोई पुरुषार्थ भी नहीं है। वे खोजते हैं ऐसा सुख, जो धर्म-अर्थ-कामजनित सुखकी तरह दुःखसे घिरा हुआ भी न हो और अनित्य भी न हो। वे यह भी सोचते हैं कि धर्म-अर्थ-कामजनित सुख तो हुआ देहका सुख। देह है अनित्य, इससे ये सब सुख भी अनित्य हैं। जितने दिनोंतक अनित्य देहके साथ सम्बन्ध रहेगा, उतने दिनतक जीव नित्य सुख प्राप्त नहीं कर सकता। अनित्य देहके साथ सम्बन्धका छेदन किस प्रकार हो? मायाके बन्धनमें होनेसे जीवका मायिक देहके

साथ सम्बन्ध है। मायाका बन्धन तोड़ सकनेपर ही जीव अनित्य देहके साथ सम्बन्ध भी तोड़ सकता है, सम्भव है तभी नित्य सुखका अनुसंधान मिल सके। उल्लिखित प्रकारसे विचार करके वे लोग मायाका बन्धन तोड़नेकी चेष्टा करते हैं। बन्धन टूटनेका नाम ही मुक्ति या मोक्ष है। इसलिये इस श्रेणीके लोगोंके पुरुषार्थको कहते हैं **मोक्ष**।

प्रेमकी तुलनामें उपर्युक्त चारों पुरुषार्थ तृणके समान तुच्छ हैं—इस पयारोक्तिके प्रमाणमें नीचे एक श्लोक उद्धृत हुआ है—

तथा हि ललितमाधवे (५।६)

ऋद्धा सिद्धिव्रजविजयिता सत्यधर्मा समाधि-
र्ब्रह्मानन्दो गुरुरपि चमत्कारयत्येव तावत्।
यावत् प्रेम्णां मधुरिपुवशीकारसिद्धौषधीनां
गन्धोऽप्यन्तःकरणसरणीपान्थतां न प्रयाति॥ २०॥

संस्कृतटीका—ऋद्धेति। मधुरिपुः श्रीकृष्णः तस्य वशीकाराय सिद्धौषधीनां प्रेम्णां गन्धः लेशोऽपि यावत् यत्पर्यन्तं अन्तःकरणसरणीपान्थतां अन्तःकरणपथ पथिकतां न प्रयाति न गच्छति तावत् ऋद्धा समृद्धा सिद्धिव्रजविजयिता सिद्धीनां अणिमादीनां व्रजस्य समूहस्य विजयिता उत्कृष्टता सत्यधर्मा सत्यशौचदानतपस्यादिधर्मः साधनं यस्य स समाधिः योगः ब्रह्मानन्दः निर्विशेषब्रह्मानन्दः गुरुरपि महानपि चमत्कारयति चमत्कारं करोति इत्यर्थः॥२०॥

अन्वय—मधुरिपुवशीकारसिद्धौषधीनां (श्रीकृष्ण-वशीकरणके लिये सिद्धौषधितुल्य) **प्रेम्णां** (प्रेमका) **गन्धः** (गन्ध—लेशमात्र) **अपि** (भी) **यावत्** (जबतक) **अन्तःकरणसरणीपान्थतां** (चित्तपथकी पथिकताको) **न प्रयाति** (प्राप्त न कर ले), **तावत्** (तबतक) **एव** (ही) **ऋद्धा** (समृद्धिशालिनी) **सिद्धिव्रजविजयिता** (अणिमादि सिद्धि-समूहकी उत्कृष्टता) **सत्यधर्मा** (सत्यधर्मोपेत) **समाधिः** (योग-जनित समाधि) **गुरुः** (महान्) **ब्रह्मानन्दः** (निर्विशेषब्रह्मानुभवजनित आनन्द) **चमत्कारयति** (चमत्कारिता-सम्पादन कर सकता है)।

अनुवाद—श्रीकृष्ण-वशीकरणके लिये सिद्धौषधिस्वरूप प्रेमसमूहका किंचित् अंश भी जबतक अन्तःकरण-पथका पथिक न हो जाय, अर्थात् अन्तःकरणमें न आ जाय, तभीतक समृद्धिशालिनी अणिमादि सिद्धिसमूहकी उत्कृष्टता, सत्यधर्मोपेत समाधि एवं निर्विशेष-ब्रह्मानुभवजनित महानन्द भी चमत्कारिता सम्पादन करनेमें समर्थ होते हैं।

मधुरिपुवशीकार सिद्धौषधीनां—मधुरिपु श्रीकृष्णको वशीभूत करनेके लिये सिद्ध-औषधि—अमोघ उपायस्वरूप जो प्रेम है, उस **प्रेम्णां**—प्रेमसमूह—-दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर प्रेमकी **गन्धः अपि**—गन्धमात्र अर्थात् लेशमात्र भी **यावत् अन्तःकरणसरणीपान्थतां**—जबतक अन्तःकरण अर्थात् चित्तरूप पथकी पथिकताको प्राप्त न कर ले अर्थात् जबतक दास्य-सख्यादि किसी भी एक प्रेमका किंचित् अंश भी हृदयमें उदय न हो, तभीतक **ऋद्धा**—समृद्धिशालिनी **सिद्धिव्रजविजयिता**—अणिमादि अष्ट सिद्धियोंके समूहकी श्रेष्ठता—उत्कृष्टता **सत्यधर्म**—सत्यधर्मोपेत अर्थात् सत्य, शौच, दान एवं तपस्यादि ही जिसके साधन हैं—ऐसी **समाधिः**—ध्यानके प्रभावसे परमात्माके साथ मनकी लयप्राप्त अवस्था एवं **गुरुः ब्रह्मानन्दः**—निर्विशेष-ब्रह्मानुभवजनित अत्यधिक आनन्द **चमत्कार-यति**—मनमें चमत्कार—आकर्षण उत्पन्न करता है।

श्रीकृष्णप्रेमका लवमात्र अंश भी यदि हृदयमें प्रकट हो जाय तो अणिमादि अष्टसिद्धियाँ, योगाभ्यासजनित समाधि एवं निर्विशेष-ब्रह्मानुभूतिजनित आनन्द साधकको अपने-आप ही अकिंचित्कर-सा लगने लगता है। श्रीकृष्ण-प्रेमका आस्वादन जिसने पा लिया है, उसके लिये अष्टसिद्धियाँ, समाधि एवं ब्रह्मानन्द लोभनीय नहीं होते। **अष्टसिद्धि**—पूर्ववर्ती १३२ संख्यक पयारकी टीका देखिये।

शुद्धाभक्तिके लक्षण

शुद्धभक्ति हैते हय प्रेमेर उत्पन्न।
अतएव शुद्धभक्तिर कहिये लक्षण ॥१४७॥

उपजाती शुद्धाभक्ति प्रेम, जो लोकातीत परम पावन।
जाता है शुद्धा-भक्ति-लक्षणावलिका अतः किया वर्णन॥

अन्य वाञ्छा अन्य पूजा छाड़ि ज्ञानकर्म ।
आनुकूल्ये सर्व्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन ॥१४८॥

तज मार्ग निवृत्ति-प्रवृत्ति उभय, तज अन्य लालसा, आराधन।
श्रीकृष्ण-प्रीति-अनुकूलेन्द्रियगणसे उनका ही अनुशीलन॥

शुद्धाभक्तिके लक्षण बताये जाते हैं—

अन्यवाञ्छा—श्रीकृष्णसेवाके अतिरिक्त अन्य वासना। **अन्यपूजा**—श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य देवताकी पूजा। प्रेमभक्तिकामी एकान्तिक भक्तके लिये अन्य देवताकी पूजाके सम्बन्धमें श्रीनरोत्तमदास ठाकुरकी 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' पुस्तकमें इस प्रकार उक्ति है—

'भागवतशास्त्रमर्म्म, नवविध भक्ति धर्म्म, सदाइ करिब सुसेवन।
अन्यदेवाश्रय नाइ, तोमारे कहिल भाइ, एइ तत्त्व परम भजन।.९॥

और 'अन्याभिलाषिताशून्यम्' इत्यादि श्लोकके व्याख्या-प्रसङ्गमें 'प्रेमभक्ति-चन्द्रिका' बताती है—

''अन्य-अभिलाष छाड़ि, ज्ञान-कर्म्म परिहरि, काय-मने करिब भजन।
साधुसङ्गे कृष्णसेवा, ना पूजिब देवी-देवा, एइ भक्ति परम कारण॥११॥
योगी-न्यासी, कर्म्मी ज्ञानी, अन्यदेव-पूजक ध्यानी, इहलोक दूरे परिहरि।
धर्म्म-कर्म्म, दुःखशोक, जेवा थाके अन्य जोग, छाड़ि भज गिरिवरधारी॥१४॥
हृषीके गोविन्द सेवा, ना पूजिब देवीदेवा, एइ त अनन्य भक्ति हय॥१७॥

सर्वदा एकमात्र श्रीकृष्णकी आराधना ही अनन्य भक्तका कर्तव्य है, अन्य देवी-देवताओंकी पूजा करना कर्तव्य नहीं; साथ ही अन्य देवी-देवताओंके अति अवज्ञा-प्रदर्शन भी कर्तव्य नहीं।

हरिरेव सदाऽऽराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः।
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन॥ (पद्मपुराण)

अर्थात् सर्वदेवेश्वरेश्वर श्रीहरि ही सदा आराध्य हैं, तथापि ब्रह्मा-रुद्रादि अन्य देवताओंकी अवज्ञा कदापि नहीं करनी चाहिये।

इस प्रसङ्गमें श्रीजीवगोस्वामीने और भी लिखा है—"**अवज्ञादिकं तु सर्वदा परिहरणीयम्।**" अन्य देवताकी पूजा न करनेपर भी, उनकी अवज्ञा सर्वथा वर्जनीय है। श्रीजीवगोस्वामीने एक और भी भगवद्वाक्यका उल्लेख किया है—

यो मां समर्चयेन्नित्यमेकान्तं भावमास्थितः।
विनिन्दन् देवमीशानं स याति नरकं ध्रुवम्॥

जो अनन्य भावसे नित्य मेरी अर्चना करता है और महादेवकी निन्दा करता है, वह अवश्य नरकमें जायगा।

इस सम्बन्धमें गौतमीय तंत्रका भी कहना है कि—

गोपालं पूजयेद् यस्तु निन्दयेदन्यदेवताम्।
अस्तु तावत् परो धर्मः पूर्वधर्मो विनश्यति॥

अर्थात् जो गोपालकी पूजा करते हैं और अन्य देवताकी निन्दा करते हैं, उनके लिये पर-धर्म (पूजा-फलकी) प्राप्ति तो दूर रही, उनका पूर्व-सुकृत भी विनष्ट हो जाता है।

अन्य देवताकी पूजासे उस देवताके प्रति अनुरक्ति उत्पन्न हो सकती है, जिससे श्रीकृष्णचरणमें अनुरक्ति शिथिल हो जा सकती है। अन्य किसी देवताके विग्रहादिके निकट उपस्थित होनेपर अवश्य ही उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शन करते हुए उनसे कृष्णभक्तिकी प्रार्थना करना ही संगत है। सभी देवता श्रीकृष्णकी शक्ति हैं, उन्हींका प्रकाश हैं, अतएव सभी यथोचित श्रद्धाके पात्र हैं। उनके प्रति अवज्ञा प्रदर्शित होनेसे श्रीकृष्ण प्रसन्न नहीं हो सकते, इसलिये भक्ति भी पुष्ट नहीं हो सकती। वृक्षकी जड़में जल सींचनेसे जिस प्रकार उसकी शाखा-प्रशाखादि भी तृप्त होती हैं, प्राणोंकी परितृप्तिसे ही जिस प्रकार समस्त इन्द्रियोंकी तृप्ति होती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण सर्वदेवेश्वरेश्वर होनेसे, एक उन्हींकी पूजासे अन्य सभी देव-देवी आदिकी पूजा या तृप्ति हो जाती है। इसीलिये पृथक भावसे अन्य किसीकी भी पूजाका प्रयोजन नहीं।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥
(श्री म० भा० ४।३१।१४)

श्रीमद्भगवद्गीताके

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥ (९।३०)

श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामिपादने लिखा है—

"**अत्यन्तं दुराचारोऽपि नरः यद्यपि अपृथक्त्वेन पृथग्देवतापि वासुदेव एवेतिबुद्ध्या देवतान्तरभक्तिम् अकुर्वन् परमेश्वरं भजते तर्हि साधुः श्रेष्ठ एव स मन्तव्य**"—अन्य देवता वासुदेव—श्रीकृष्णसे पृथक् नहीं हैं, वे भी स्वरूपतः वासुदेव ही हैं—इस बुद्धिसे जो लोग अन्य देवताका भजन न करके परमेश्वर श्रीकृष्णका ही भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुराचारी होनेपर भी साधु हैं—क्योंकि शीघ्र ही वे धर्मात्मा हो जायँगे—"**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा** (गीता ९।३१)।"

यदि कोई कहे कि अन्य देवता जब श्रीकृष्णसे पृथक् नहीं हैं, तब उन अन्य देवताकी पूजासे भी तो श्रीकृष्ण-पूजा ही होगी, अतः अन्य देवताकी पूजाके निषेधमें क्या हेतु है ? उत्तर—अन्य देवताकी पूजा भी श्रीकृष्ण-पूजामें ही पर्यवसित होती है, यह सत्य है ; किंतु वह पूजा श्रीकृष्णकी अविधिपूर्वक—विधिहीन पूजा होगी।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ (गीता ९।२३)

अविधिपूर्वक —शब्दका अर्थ —(१) **मोक्षप्रापकं विधिं विना** (स्वामी) (२) **अज्ञानपूर्वकम्** (शंकर)। उसका फल यह है कि अन्यदेव-पूजक उसी देवताको प्राप्त कर सकते हैं (**यान्ति देवव्रता देवान्।** गीता ९।२५), श्रीकृष्णको नहीं। श्रीकृष्णभजनसे श्रीकृष्ण मिल सकते हैं (**यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्। गीता ९।२५**)। गीता ९।२५ श्लोककी टीकामें श्रीपाद शंकराचार्यने बतलाया है —**समानेऽपि आयासे मामेव न भजन्तोऽज्ञानात्। तेन ते अल्पफलभाजो**

भवन्तीति। श्रीकृष्णभजनमें और अन्य देवताके भजनमें प्रयास एक-सा ही है, किंतु अविधिपूर्वक भजनमें समान प्रयास होनेपर भी केवल सामान्य फल मिलता है। यदि वही प्रयास श्रीकृष्ण-भजनमें किया जाय तो श्रीकृष्णको प्राप्त किया जा सकता है। **यान्ति मद्याजिनो मद्भजनशीला वैष्णवा मामेव** (शंकर) जो हो, श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य भगवत्-स्वरूपके भजनसे एकनिष्ठताकी हानि होती है, इसीलिये नैष्ठिक भक्त वैसा नहीं करते। प्रमाण—श्रीरामचन्द्रके उपासक श्रीहनुमान्। उन्होंने कहा 'मैं जानता हूँ कि श्रीनाथ एवं जानकीनाथ अभिन्न हैं—इसलिये कि दोनों ही परमात्मा हैं, तथापि कमललोचन श्रीरामचन्द्र ही मेरे सर्वस्व हैं।'

श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः॥

ज्ञान—निर्विशेष-ब्रह्मानुसंधान। ज्ञानके तीन विभाग हैं—(१) भगवत्-तत्त्वज्ञान, (२) जीवका स्वरूप-ज्ञान और (३) इन दोनोंका ऐक्य-विषयक ज्ञान। प्रथमोक्त दो विषयोंका ज्ञान भक्ति-विरोधी नहीं है, परंतु शेषोक्त ज्ञान—भगवान् और जीवका ऐक्य-विषयक ज्ञान—भक्ति-विरोधी है। भक्तिमार्गके अनुष्ठानमें यह ज्ञान वर्जनीय है।

कर्म्म—स्वर्गादि-भोग-साधक कर्म। ये सभी भक्तिके लिये उपाधि-स्वरूप हैं। यह **उपाधि** दो प्रकारकी है—(१) अन्यवासना, (२) अन्य-मिश्रण। **अन्य-वासना**—श्रीकृष्णसेवाके अतिरिक्त भुक्ति-मुक्ति-वासनादि। **अन्य-मिश्रण**—ज्ञान-कर्मादिका आवरण, निर्विशेष-ब्रह्मानुसंधान, स्वर्गादि प्राप्त करानेवाले नित्य-नैमित्तिकादि कर्म, वैराग्य, योग इत्यादि। शुद्धाभक्ति इन सब उपाधियोंसे शून्य होगी।

आनुकूल्ये—श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके अनुकूल। जिसके द्वारा श्रीकृष्ण प्रसन्न हों, ऐसे; अथवा कंश-शिशुपालादिकी तरह प्रतिकूलभाव या शत्रुभावसे नहीं; नन्द-यशोदा, सुबल-मधुमङ्गल या व्रजगोपियोंकी तरह अनुकूलभाव या आत्मीयभावसे।

सर्व्वेन्द्रिये—समस्त इन्द्रियोंद्वारा।

कृष्णानुशीलन—श्रीकृष्णका अनुशीलन, श्रीकृष्ण-विषयक चेष्टा। यह

अनुशीलन दो प्रकारका है—(१) प्रवृत्त्यात्मक, (२) निवृत्त्यात्मक। प्रवृत्त्यात्मक चेष्टा—ग्रहण-चेष्टा। निवृत्त्यात्मक चेष्टा—त्यागकी चेष्टा। इनमेंसे प्रत्येकके कायिक, मानसिक और वाचिक—तीन भेद हैं। कायिक चेष्टा—श्रवणादि, परिचर्यादि, तीर्थगमनादि। मानसिक चेष्टा—स्मरण। वाचिक चेष्टा—कीर्त्तनादि। इस प्रकार श्रीकृष्ण-विषयक चेष्टामें (१) **प्रवृत्त्यात्मक** कृष्णानुशीलन होगा—श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये अनुकूल भावसे उनके नाम-गुण-लीलादिका श्रवण, उनके नाम-गुण-लीलादिका स्मरण, और उनके नाम-गुण-लीलादिका कीर्त्तन और (२) **निवृत्त्यात्मक** अनुशीलन होगा—जिससे श्रीकृष्णको अप्रसन्नता हो, इस प्रकारके भावसे अथवा कंश-शिशुपालादिकी तरह हिंसा और विद्वेष आदिके वशीभूत होकर उनका नामादिका उच्चारण करनेसे, उनके गुण और लीलादिमें दोषारोपण करनेसे, उनके अप्रीतिकर कोई भी विषय श्रवण करनेसे, उनकी निन्दादि श्रवण करनेसे अथवा इस प्रकारकी सब बातोंके स्मरणादि करनेसे विरत रहना।

'आनुकूल्ये सर्व्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन'—ये हैं शुद्धाभक्तिके स्वरूप-लक्षण। 'अन्य वाञ्छा, अन्य पूजा, छाड़ि ज्ञान-कर्म्म'—ये हैं शुद्धाभक्तिके तटस्थ लक्षण। इस प्रकार अति आश्चर्यमय लीला-माधुर्यादि द्वारा जो प्राकृत एवं अप्राकृत समस्त विश्वको, यहाँतक कि स्वयं अपने चित्तको आकर्षित करते हैं, जो सर्वैश्वर्य-माधुर्यपूर्ण स्वयं भगवान् हैं, उन श्रीकृष्णका, अन्य वासना और ज्ञान-कर्मादिका सम्पर्क सर्वथा त्यागकर समस्त इन्द्रियोंसे अनुकूलतामय अनुशीलन करनेको शुद्धाभक्ति कहते हैं। इस अनुशीलनमें, श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके अनुकूल उनके नाम-गुण-लीलादिका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणादि एवं श्रीकृष्णके लीलास्थलादिमें गमनादि– ये कार्य करने होंगे तथा उनकी प्रसन्नताके प्रतिकूल श्रवण-कीर्तन-स्मरणादिका त्याग करना होगा, भक्तिवासनाके अतिरिक्त भोग-सुख-वासनादि सबका त्याग करना होगा, स्वतन्त्र ईश्वर-बुद्धिसे अन्य देवताओंकी पूजा एवं ज्ञान-योग-कर्म-तपस्यादिका सम्पर्क सम्पूर्णरूपसे त्याग करना होगा ; तथा सभी इन्द्रियोंको श्रीकृष्णसेवामें या सेवाके अनुकूल विषयोंमें लगाना होगा।

समस्त इन्द्रियोंको श्रीकृष्णसेवामें और सेवाके अनुकूल विषयोंमें किस प्रकार

लगाया जाय ? पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं– (१) चक्षु, (२) कर्ण, (३) नासिका, (४) रसना और (५) त्वचा। पाँच कर्म-इन्द्रियाँ हैं– (१) वाक् (वाणी), (२) पाणि (हाथ), (३) पाद (पैर), (४) पायु (मल-त्यागकारी इन्द्रिय) और (५) उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)।

ज्ञानेन्द्रियोंके कर्त्तव्य—चार आन्तर इन्द्रियाँ हैं– (१) मन, (२) बुद्धि, (३) अहंकार और (४) चित्त। (१) चक्षुद्वारा श्रीमूर्ति-दर्शन, लीला-स्थानादि-दर्शन; (२) कर्णद्वारा श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीलादि-श्रवण ; (३) नासिकाद्वारा श्रीकृष्णके प्रसाद, तुलसी-गन्ध-पुष्पादिकी सुगन्ध ग्रहण करना ; (४) रसनाद्वारा महाप्रसादका आस्वादनादि ; (५) त्वचाद्वारा, श्रीकृष्णको अर्पित गन्ध-माल्यादिका स्पर्शानुभव, लीलास्थलके रज आदिका और नाम-मुद्रा-तिलकादिका धारण करना।

कर्मेन्द्रियोंके कर्त्तव्य– (१) वाणीके द्वारा नाम-गुण-लीलादिका कथन ; (२) हाथके द्वारा श्रीकृष्णसेवाके लिये उपयोगी पुष्पादि द्रव्योंका आहरण, संकीर्त्तनादिमें वाद्यादि बजाना, हरिमन्दिरका मार्जनादि करना ; (३) पाद (पैरों) के द्वारा तीर्थस्थान या हरिमन्दिरादिमें जाना, सेवाके उपयोगी द्रव्यादिका संग्रह करनेके लिये गमनागमन ; (४) पायु और उपस्थके द्वारा मल-मूत्रादिका त्याग करके शरीरको सेवाके उपयुक्त बनाये रखना।

अन्तरिन्द्रियोंका कर्त्तव्य—(१) मनके द्वारा श्रीकृष्णके गुण-लीलादिका स्मरण ; (२) बुद्धिको श्रीकृष्णनिष्ठ बनाना ; (३) अहंकारके द्वारा 'मैं श्रीकृष्णका दास हूँ'—ऐसा अभिमान पोषण करना ; एवं (४) चित्त (अनुसंधानात्मिका वृत्ति) को श्रीकृष्ण-विषयक अनुसंधानमें लगाना। इस प्रकार सब इन्द्रियोंको श्रीकृष्ण-सेवाके अनुकूल विषयोंमें लगाया जा सकता है।

भक्तिरसामृतसिन्धुके—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

—श्लोकमें भी इस पयारकी बात ही बतायी गयी है। पयारके '**अन्यवाञ्छा अन्यपूजा छाड़ि**' वाक्यमें श्लोकके '**अन्याभिलाषिताशून्यं**', **ज्ञानकर्म्म छाड़ि**' वाक्यमें '**ज्ञानकर्माद्यनावृतम्**', एवं '**आनुकूल्ये** इत्यादि' वाक्यमें '**आनुकूल्येन**

कृष्णानुशीलनम्' अंशका तात्पर्य प्रकट होता है। उल्लिखित श्लोककी टीकामें श्रीपाद जीवगोस्वामीने लिखा है—श्लोकका 'कर्म' शब्द स्मृति-शास्त्रादि-विहित 'नित्य-नैमित्तिक कर्मादिका ही द्योतक है। उन सबका त्याग करना होगा, भजनके अङ्गीभूत- भजनसे सम्बन्धित परिचर्यादिका त्याग करना नहीं होगा ; क्योंकि इस प्रकारकी परिचर्या भी कृष्णानुशीलनका अङ्ग है। 'ज्ञान-कर्मादि' शब्दके अन्तर्भूत 'आदि' शब्द—वैराग्य, सांख्ययोगाभ्यासादिका द्योतक है। इन सबका भी त्याग करना होगा ; क्योंकि वैराग्यादि भक्तिके अङ्ग नहीं हैं।

'ज्ञान-वैराग्य कभु नहे भक्ति अङ्ग । यम-नियमादि बुले कृष्णभक्तसङ्ग ॥

(चै० च० म० २२ । ८२)

भक्तिका अनुशीलन करते-करते वैराग्यादि अपने-आप ही आ जाते हैं। यम-नियम आदि तो कृष्णभक्तके पीछे-पीछे फिरते हैं। (उपर्युक्त पयारकी व्याख्या सनातन-शिक्षा प्रसङ्गमें यथास्थान देखिये)।

एइ शुद्ध भक्ति, इहा हैते प्रेम हय।
पञ्चरात्र्ये भागवते एइ लक्षण कय ॥१४९॥

कहलाती शुद्धा भक्ति यही, इससे ही होता प्रेम-उदय।
करते उल्लेख इसी लक्षणका पञ्चरात्र-भागवत उभय॥

पञ्चरात्र—नारद-पञ्चरात्र नामक ग्रन्थ। **भागवत**- श्रीमद्भागवत।

एइ लक्षण—शुद्धाभक्तिके इस प्रकारके लक्षण—जो निम्नोक्त श्लोकोंमें और पूर्वोक्त पयारमें वर्णित हुए हैं।

नारदपञ्चरात्रवचनम्—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥ २१ ॥

संस्कृतटीका—तत्परत्वेन आनुकूल्येन सर्वेत्यन्याभिलाषिताशून्यं

सेवनमनुशीलनं निर्मलं ज्ञानकर्माद्यनावृतं अत उत्तमत्वं स्वत एवोक्तम्। (श्रीजीव)।

अन्वय—**हृषीकेण** (इन्द्रियोंके द्वारा) **सर्वोपाधिविनिमुक्तं** (सब प्रकारसे उपाधिशून्य होकर) **तत्परत्वेन** (सेवा-परायणताके हेतुसे) **निर्मलं** (निर्मल होकर) **हृषीकेशसेवनं**—(इन्द्रियेश्वर श्रीकृष्णका सेवन करना) **भक्तिः** (भक्ति) **उच्यते** (कहलाती है)।

अनुवाद— समस्त इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोंके अधीश्वर श्रीकृष्णकी सेवाको भक्ति कहते हैं। वह सेवा सब प्रकारसे उपाधि—सेवाके अतिरिक्त अन्य वासना—से शून्य एवं सेवापरायणताके कारण निर्मल होती है।

हृषीकेश—'हृषीक' शब्दका अर्थ है इन्द्रियाँ; जो इन्द्रियोंके अधीश्वर हैं, वे हैं हृषीकेश—श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण सब इन्द्रियोंके अधीश्वर हैं, अतएव **हृषीकेण**—इन्द्रियोंके द्वारा उन्हींकी सेवा कर्तव्य है। (पूर्ववर्ती १४८ संख्यक पयारके उत्तरार्द्धकी टीका देखिये)।

उपाधि—पूर्ववर्ती १४८ संख्यक पयारके पूर्वार्द्धकी टीका देखिये)।

तथाहि श्रीमद्भागवते (३।२६।११-१२)

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥२२॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥२३॥

संस्कृतटीका—तदेवं तामसादिभक्तिषु त्रयस्त्रयो भेदाः तासु यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम्। एवं च श्रवणकीर्त्तनादयो नवापि प्रत्येकं नव-नव-भेदाः, तदेवं सगुणा भक्तिरेकाशीतिभेदा भवति। निर्गुणा भक्तिरेकविधैव, तामाह 'मद्गुणश्रुतिमात्रेणेति द्वाभ्याम्। अविच्छिन्ना संतता। अहैतुकी फलानुसंधानशून्या। अव्यवहिता भेददर्शनरहिता च। मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि पुरुषोत्तमे। मनोगतिरिति या भक्तिः सा निर्गुणस्य भक्तियोगस्य लक्षणमित्यन्वयः। लक्षणं स्वरूपम् (स्वामी)।

अन्वय—मद्गुणश्रुतिमात्रेण (मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे) **सर्वगुहाशये** (सबके अन्तःकरणमें अवस्थित) **मयि पुरुषोत्तमे** (मुझ पुरुषोत्तममें), **अम्बुधौ** (समुद्रमें) **गङ्गाम्भसः** (गङ्गाजलकी) **यथा** (तरह), **अविच्छिन्ना** (विषयान्तर-द्वारा व्यवधानशून्य) [**या**] (जो) **मनोगतिः** (मनकी गति है), **सा हि** (वही) **निर्गुणस्य भक्तियोगस्य** (निर्गुण भक्तियोगका) **लक्षणं** (लक्षण) **उदाहृतं** (कहा गया है)। **या भक्तिः** (जो भक्ति) **अहैतुकी** (फलानुसंधानसे शून्य) एवं **अव्यवहिता** (ज्ञान-कर्मादिव्यवधानसे शून्य है।

अनुवाद—श्रीकपिलदेवजी अपनी माता देवहूतिसे कहते हैं—'माँ! मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे सबके अन्तःकरणमें अवस्थित मुझ पुरुषोत्तममें—समुद्रमें गङ्गाके जलकी तरह—अविच्छिन्न जो मनकी गति है एवं जो फलाभिसंधानसे शून्य और ज्ञान-कर्मादिव्यवधानसे शून्य या स्वरूपसिद्ध है, वही निर्गुण भक्तियोगका लक्षण है।

इन श्लोकोंमें निर्गुण या शुद्धाभक्तिके लक्षण कहे गये हैं। पुरुषोत्तम भगवान्‌में जो मनकी गति है, उसीका नाम भक्ति है। यह मनोगति यदि भगवद्गुणोंके श्रवणमात्रसे, गङ्गाकी धाराकी तरह अविच्छिन्न रहे, अहैतुकी एवं अव्यवहित हो, तभी इसको निर्गुण भक्ति कहा जाता है। इस प्रकार निर्गुण भक्तिके चार लक्षण हुए—(१) भगवद्गुणोंके श्रवणमात्रसे इसका उन्मेष होगा, अन्य किसी कारणसे यह प्रकट नहीं होती; क्योंकि भक्तिसे ही भक्ति उत्पन्न होती है '**भक्त्या संजातया भक्त्या**' इत्यादि। भगवद्गुण-श्रवणादि भक्तिके अङ्ग हैं, उनके द्वारा उन्मेषित होनेपर ही यह अन्धकारसे शून्य या निर्गुण हो सकती है। (२) यह अविच्छिन्न होगी; गङ्गाकी जलधारा जिस प्रकार अविच्छिन्न गतिसे समुद्रकी ओर गमन करती है, कहीं भी उसमें जरा-सा भी व्यवधान नहीं रहता, भक्तके मनकी गति भी यदि उसी प्रकार अविच्छिन्नरूपसे पुरुषोत्तम भगवान्‌की ओर दौड़ती रहे, अन्य विषयोंके चिन्तनद्वारा यदि इसमें किसी समय भी दरार न पड़े, तभी यह निर्गुण हो सकती है। (३) यह अहैतुकी होगी— किसी हेतुका अवलम्बन करके, अपने लिये किसी भी फलकी आकाङ्क्षा करके यह मनोगति प्रवृत्त नहीं होगी। यह होगी—अपने लिये किसी भी प्रकारके फलके अनुसंधानसे रहित। (४) यह

अव्यवहित होगी अर्थात् यह आरोप-सिद्धा भक्ति नहीं होगी, परंतु स्वरूप-सिद्धा या साक्षात् भक्तिरूपा होगी--एकमात्र भगवत्-प्रीतिकी अनुकूलताके लिये ही यह प्रयुक्त होगी। ये सब लक्षण विद्यमान रहनेपर ही भक्तिकी निर्गुणता सिद्ध होगी।

निर्गुण या शुद्धा भक्ति जिनकी है, उनको ही शुद्ध भक्त कहा जाता है। इस प्रकारकी भक्ति जिनकी है, वे शुद्ध भक्तगण भगवत्सेवाशून्य सालोक्यादि मुक्ति भी ग्रहण नहीं करते—यह बात परवर्ती श्लोकमें बतायी गयी है।

तत्रैव (श्रीमद्भागवते ३।२९।१३)

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।। २४ ।।

संस्कृतटीका—अहैतुकीत्वमेव विशेषतो दर्शयति। जना मदीयाः। सालोक्यादिकमपि उत अपि दीयमानमपि न गृह्णन्ति मत्सेवनं विनेति। गृह्णन्ति चेत्तर्हि मत्सेवनार्थमेव गृह्णन्ति, नतु तदर्थमेवेत्यर्थः। सार्ष्टि समानैश्वर्यं एकत्वं भगवत्सायुज्यं ब्राह्मसायुज्यं च। अनयोस्तल्लीलात्मकत्वेन मत्सेवनार्थत्वाभावादग्रहणावश्यकत्वमेवेति भावः (श्रीजीवगोस्वामी)।

अन्वय— **जनाः** (मेरे भक्तगण) **मत्सेवनं** (मेरी सेवाको) **विना** (छोड़कर) **दीयमानं** (मेरे देनेके लिये उद्यत होनेपर) **उत** (भी) **सालोक्य** (मेरे सहित एक लोकमें वास), **सार्ष्टि** (मेरे समान ऐश्वर्य), **सारूप्य** (मेरे समान रूप), **सामीप्य** (मेरे निकट अवस्थान), **एकत्वमपि** (मेरे साथ सायुज्य भी) **न गृह्णन्ति** (ग्रहण नहीं करते)।

अनुवाद—श्रीकपिलदेवजी बोले—माँ! मेरे भक्तगण मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य एवं सायुज्य—ये पाँच प्रकारकी मुक्ति प्रदान करनेपर भी ग्रहण नहीं करते। (पञ्चविध मुक्तिकी व्याख्या १३२ संख्यक पयारकी व्याख्यामें देखिये)।

सगुणा भक्ति

स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति होनेके कारण भक्ति स्वभावतः निगुण—प्राकृतगुण-स्पर्शशून्य होती है। किंतु भक्तिका अनुष्ठान करनेवाले मायाबद्ध जीव हैं। जीवके

चित्तमें मायाजनित सत्त्व, रज, और तमोगुण विद्यमान रहते हैं। साधकके चित्तमें इन सब मायिक गुणोंकी प्रधानता रहनेके कारण, भक्तिसाधनमें उनके प्रतिफलित होनेसे भक्ति ही गुणमयी अथवा सगुण-सी प्रतिभात होने लगती है—जैसे वर्णरहित स्फटिकमें, किसी भी वर्णके प्रतिफलित होनेपर, वह स्फटिक भी उसी वर्णका-सा लगने लगता है। इस प्रकार जिस भक्तियोगमें मायागुण प्रतिफलित होते हैं, उस भक्तियोगको सगुण भक्तियोग कहा जाता है। जिसमें इस प्रकारका प्रतिफलन नहीं होता, वही निर्गुण भक्तियोग है। यहाँपर परवर्ती २२-२३ संख्यक मूलके श्लोकोंमें निर्गुणभक्तिकी बात बतायी गयी है। श्रीमद्भागवतमें इन दो श्लोकोंके पूर्व कुछ श्लोकोंमें सगुण भक्तिकी बात—सगुणासे निर्गुणाका पार्थक्य एवं उत्कर्ष दिखानेके लिये बतायी गयी है। मायाके तीन गुण हैं, उनके प्रतिफलनसे सगुणा भक्ति भी प्रधानतः तीन प्रकारकी हो जाती है—**तामस भक्तियोग, राजस भक्तियोग** एवं **सात्विक भक्तियोग**।

हिंसावृत्ति चरितार्थ करनेके (किसीका भी विनाश करनेके) उद्देश्यसे, अथवा दम्भ-प्रकाशके उद्देश्यसे, अथवा मात्सर्यवश जो क्रोधी एवं भेददर्शी—अपने और अन्यके सुख-दुःखको भिन्न माननेवाला व्यक्ति यदि भगवान्‌की भक्ति करे, तो उसका भक्तियोग होगा **तामस**। भगवान् श्रीकपिलदेवजी अपनी माता देवहूतिजीसे कहते हैं—

अभिसंधाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः॥

(श्री म० भा० ३।२९।८)

उपर्युक्त तीन प्रकारके उद्देश्य-भेदसे तामसी भक्ति भी तीन प्रकारकी होती है—जैसे क्रमसे अधम तामसी, मध्यम तामसी एवं उत्तम तामसी (बृहन्नारदीय पुराण)।

विषय—देहादिक-सुखप्राप्तिके उद्देश्यसे, यज्ञादिप्राप्तिके उद्देश्यसे, अथवा ऐश्वर्यप्राप्तिके उद्देश्यसे—भक्तिप्राप्तिके उद्देश्यसे नहीं—जो लोग प्रतिमादिमें भगवदर्चना करते हैं, उनका भक्तियोग होगा **राजस**—रजोगुण-प्रणोदित। श्रीकपिलभगवान् अपनी मातासे कहते हैं—

विषयानभिसंधाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥ (श्रीम० भा० ३।२९।९)

उपर्युक्त उद्देश्य-भेदसे राजसी भक्ति भी तीन प्रकारकी है—अधम, मध्यम और उत्तम ।

पापप्रक्षालनके उद्देश्यसे, अथवा क्रियमाण कर्मके फलजनित बन्धनसे मुक्ति पानेके उद्देश्यसे, श्रीकृष्णके प्रति कर्मके अर्पणका संकल्प लेकर, अथवा केवल कर्तव्य-बुद्धिसे—

चारिवर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे । स्वधर्म करियाओ से रौरवे पड़ि मजे ॥

यह बात विचारकर कि जिससे रौरव नरकमें न पड़ना पड़े, इसलिये जो भक्ति-अङ्गका अनुष्ठान करते हैं, वह हुई **सात्विकभक्ति** । श्रीकपिलदेवजीका अपनी माताके प्रति वचन—

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्विकः ॥ (श्रीम० भा० ३।२९।१०)

उपर्युक्त उद्देश्य-भेदसे सात्विकी भक्ति भी तीन प्रकारकी है—अधम, मध्यम और उत्तम ।

तामसीसे राजसीका, राजसीसे सात्विकीका उत्कर्ष होता है । उद्देश्य-भेदसे प्रत्येक प्रकारकी सगुण भक्तिके तीन-तीन भेद होनेके कारण, सारी सगुण भक्तिके नौ भेद हुए । इन नौ भेदोंमें सात्विकीका उत्तम अङ्ग ही—अर्थात् कर्तव्य-बुद्धिसे भजन ही—सर्वोत्तम है । शास्त्रविधि-प्रणोदित होनेके कारण यही वास्तवमें विधिभक्ति है । जो हो, इन नौ भेदोंमेंसे प्रत्येकका अनुष्ठान नौ प्रकारका हो सकता है ; क्योंकि श्रवण–कीर्त्तनादि नौ प्रकारकी भक्तिके किसी भी अङ्गद्वारा, उल्लिखित नौ उद्देश्यमूलक भक्तियोगका साधन हो सकता है । इससे स्पष्ट है कि उद्देश्यको दृष्टिमें रखते हुए सगुण भक्ति नौ प्रकारकी होकर भी उद्देश्यमूलक अनुष्ठानकी दृष्टिसे इकासी प्रकारकी हो सकती है । अपनेसे सम्बन्धित किसी-न-किसी एक उद्देश्य-सिद्धिकी वासना ही हुई सगुणा भक्तिकी प्रवर्त्तिका । इसलिये यह सहेतुक—सकाम भी है, अहैतुकी नहीं । उल्लिखित श्रीमद्भागवतके प्रमाणोंसे देखा गया कि सगुण भक्तिके अनुष्ठानमें कहीं भी भक्तिकी वासना नहीं है ।

भक्तिवासनाको चित्तमें रखकर सगुण अवस्थामें भी साधक यदि भक्तियोगका अनुष्ठान करते हैं तो भक्तिमहारानीकी कृपासे वे भी गुणातीत हो सकते हैं, उनकी भक्ति भी तब अपने स्वरूपसे—निर्गुण रूपसे—उनके चित्तमें विराजित हो सकती है।

जो हो, इस प्रकार सगुणा भक्तिकी बात बताकर भगवान् श्रीकपिलदेवजीने अपनी माता देवहूतिजीको—'**मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण**' इत्यादि वाक्योंद्वारा निर्गुण भक्तिकी बात बतायी है।

अपने लिये सुख-प्राप्ति या दुःख-निवृत्तिकी जो वासना है, अथवा जिस उद्देश्यकी सिद्धिका फल सुख-लाभ या दुःख-निवृत्ति है—वह फल एकमात्र अपनेको ही मिले, ऐसे उद्देश्यकी सिद्धिके लिये जो वासना होती है, उसीका नाम है **काम**। सगुण भक्तियोगकी प्रवर्त्तिका हुई इस प्रकारकी वासना। मायिक गुणसे उत्पन्न होनेके कारण, मायिक गुणके प्रभावसे देहावेश उत्पन्न होता है, इसलिये, एवं देहावेश हेतु ही उक्त प्रकारकी वासना उत्पन्न होती है—इसलिये इस भक्तियोगको **सगुण** कहते हैं। यह वासना इस भक्तियोगकी प्रवर्त्तिका होनेमें हेतु होनेके कारण **सहेतुक** भी कहलाती है। वास्तवमें स्वरूपतः यह भक्ति भी नहीं है; क्योंकि '**भक्ति**' शब्द का अर्थ ही है—भजन, सेवा, स्वसुख-वासनागन्धहीन कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी सेवा। **भक्तिरस्य भजनम्, इहामुत्रोपाधिनैराश्येन अमुष्मिन मनसः कल्पनम्—गोपालतापनी श्रुतिः**। इस सगुण भक्तियोगसे भक्ति-अङ्गोंका साधन होनेके कारण इसमें भक्तित्वका आरोप होता है, वस्तुतः यह भक्ति-विरोधी है, यह केवल आरोपसिद्ध भक्ति है।

किंतु अपनेसे सम्बन्धित किसी भी उद्देश्य-सिद्धिकी वासना जिस भक्तियोगके प्रवर्त्तक होनेमें हेतु नहीं है, भगवान्‌के सर्वचित्ताकर्षक गुणादि-श्रवणके फलसे ही भगवद्‌गुणादिके स्वरूपगत धर्मसे ही—अन्य किसी हेतुसे नहीं—भजनमें जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, वही होगी **अहैतुकी**; और मायिक गुणसे उत्पन्न कोई भी उद्देश्य-सिद्धिकी वासना इसके पीछे न होनेसे यही होगी **निर्गुण**; तथा कृष्णसेवाकी वासनाके अतिरिक्त और किसी भी वासनाद्वारा यह व्यवहित—व्यवधानप्राप्त या भेदप्राप्त—नहीं होती इसलिये यह **अव्यवहित** है—अतएव यह **स्वरूपगत**

या **स्वरूपसिद्धा** भक्ति कहलाती है। अन्य कोई भी वासनाद्वारा भेदप्राप्त न होनेसे इसकी कृष्णचरणाभिमुखी गति ही होगी **अविच्छिन्न**—गङ्गाकी जल-धाराकी समुद्राभिमुखि गतिकी तरह अविच्छिन्न। कृष्णसेवाकी वासनाके अतिरिक्त अन्य कोई भी वासना इसमें न रहनेके कारण यह **निर्मल** भी है। ये हुए निर्गुण और शुद्धाभक्तिके लक्षण। ऐसी शुद्धाभक्तिकी ओर दृष्टि रखकर तदनुकूल भावसे नवविधा भक्तिका अनुष्ठान ही शुद्धाभक्तिका साधन है। इस प्रकारके साधनके फलरूपमें ही भगवत्-कृपासे, साधु-गुरुकी कृपासे, चित्तशुद्ध होनेपर शुद्धाभक्तिका आविर्भाव हो सकता है। शुद्धाभक्तिकी कृपा होनेपर और बातें तो दूर रही, सालोक्यादि मुक्तिकी वासना भी जाग्रत् नहीं होती—यहाँतक कि भगवान् सालोक्यादि देना चाहें तो भी भक्त उसको ग्रहण नहीं करता। सेवाके अतिरिक्त भक्तकी और कोई भी काम्य वस्तु नहीं रहती। सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्तिसे परव्योममें कुछ सेवा प्राप्त हो सकती है अवश्य, किंतु परव्योममें भगवान्के ऐश्वर्यज्ञानकी प्रधानता रहनेके कारण प्रेमसेवा—सजीव सेवाका अवकाश नहीं। इसीलिये शुद्धाभक्तिकी कृपाप्राप्त भक्त उसको भी नहीं चाहते। वे तो चाहते हैं केवल शुद्धमाधुर्यमय व्रजमें व्रजेन्द्र-नन्दनकी प्रेमसेवा।

तत्रैव श्रीमद्भागवते (३।२६।१४)

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणां मद्भावायोपपद्यते ॥२५॥

संस्कृतटीका—किमिति तर्हि भजन्ते भक्तेरेव परमफलत्वादित्याह स एवेति। ननु त्रैगुण्यं हित्वा ब्रह्मप्राप्तिः परमफलं प्रसिद्धं सत्यं तत्तु भक्तावानुषङ्गिकमित्याह। येन भक्तियोगेन। मद्भावाय ब्रह्मत्वाय। स्वामी।

अन्वय—**येन** (जिसके द्वारा) **त्रिगुणां** (त्रिगुणात्मिका मायाका) **अतिव्रज्य** (अतिक्रमण करके) **मद्भावाय** (मेरे प्रेमविशेषकी प्राप्तिके लिये) **उपपद्यते** (योग्य बने), **सः एव** (वही) **आत्यन्तिकः** (आत्यन्तिक) **भक्तियोगाख्यः** (भक्तियोगके नामसे) **उदाहृतः** (कथित होता है)।

अनुवाद—श्रीकपिलदेवजी देवहूतिजीसे कहते हैं—माँ! वह भक्तियोग ही

आत्यन्तिक नामसे कहा जाता है, जिसके द्वारा साधक त्रिगुणात्मिका मायाका अतिक्रमण करके मेरा प्रेमविशेष प्राप्त करनेके योग्य होता है।

आत्यन्तिक—अत्यन्त शब्दसे ही आत्यन्तिक शब्द बनता है। अत्यन्त= अति+अन्त, शेष सीमा। जिस भक्तियोगसे दुःखनिवृत्तिकी एवं सुखप्राप्तिकी भी शेष सीमातक पहुँचा जा सके, वही आत्यन्तिक भक्तियोग है। सायुज्य मुक्तिको भी कोई-कोई आत्यन्तिक काम्य वस्तु मान सकते हैं, किंतु वह ठीक नहीं है। सायुज्य मुक्तिकी आत्यन्तिकता एकदेशीय है। इससे मायाकी निवृत्ति होनेके कारण केवल आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति हो सकती है, ब्रह्मानन्दके अनुभवसे नित्य चिन्मय-सुखका आस्वादन भी होता है; किंतु वह केवल सुख-सत्ताका आस्वादन मात्र है, स्वरूपा शक्तिकी क्रिया नहीं होनेसे उसमें रस-वैचित्रीका आस्वादन नहीं है। इसीलिये सुख-आस्वादनकी दृष्टिसे सायुज्यको आत्यन्तिक नहीं कहा जा सकता। प्राणमयी सेवाका अवकाश नहीं होनेके कारण सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्तिमें भी आनन्द-आस्वादनकी आत्यन्तिकता नहीं है। आनन्द-आस्वादनकी आत्यन्तिकता तो एकमात्र शुद्ध माधुर्यमय व्रजकी प्रेमसेवामें ही है, वहाँ दुःख-निवृत्तिकी आत्यन्तिकता भी आनुषङ्गिक भावसे सिद्ध हो जाती है। शुद्ध भक्तियोगसे व्रजेन्द्र-नंदनकी सेवा मिल जाती है, इसलिये उसको आत्यन्तिक कहा गया है। **त्रिगुणा**—त्रिगुणात्मिका मायाको **अतिव्रज्य**—अतिक्रमण करके। भगवच्चरणाश्रय मात्रसे ही त्रिगुणात्मक संसार-समुद्र गोपदके समान नगण्य-सा लगने लगता है; इसलिये, अनजानमें ही, आनुषङ्गिक रूपसे, भक्त उसको पार कर जाता है। **मद्भावाय**—भावका अर्थ विद्यमानता भी होता है और प्रेम-विशेष भी होता है; अतः 'मद्भावाय' शब्दका अर्थ होगा- भगवत्-साक्षात्कारके लिये, अथवा भगवान्‌में प्रेमविशेष प्राप्तिके लिये **उपपद्यते**—योग्य होता है।

शुद्धाभक्तिके प्रभावसे मायातीत होकर जो श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त किया जाता है, उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है।

भुक्ति-मुक्ति-आदि-वाञ्छा यदि मने हय।
साधन करिले प्रेम उत्पन्न ना हय ॥१५०॥

यदि भुक्ति-मुक्ति इत्यादिककी पाती वाञ्छा मनमें आश्रय।
साधनमें रत रहनेपर भी होता न हृदयमें प्रेमोदय॥

भुक्ति-मुक्ति इत्यादि—भुक्ति-मुक्ति आदि- ये सब भक्ति-लताकी उपशाखाएँ होती है। इन सब उपशाखाओंके उत्पन्न होनेसे मूल भक्ति-लता परिपुष्ट नहीं हो पाती, इसलिये प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी कारणसे इस प्रकारका साधन सगुण है।

इसके प्रमाणमें एक श्लोक नीचे उद्धृत हुआ है—

तथाहि (भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे द्वितीयलहर्याम् १५)—

भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥ २६ ॥

संस्कृतटीका—अथ मूलमनुसरामः। पूर्वत्र हेतुं व्यतिरेकेणाह भुक्तीति। अत्र मुक्ति स्पृहायामपि पिशाचित्वं भावान्तरेण भक्तिस्पृहावरकत्वात् पूर्वा परा च स्वोन्मुखतातपर्यवती च। अत्र यद्यपि भक्ता एव संसारतो मुक्ता भवत्येव तथापि तदंशे तु तेषां तात्पर्यं न भवत्येव किंतु भक्तेः प्रभावेणैव सा स्यादिति तदेवमनया कारिकया साधकानामपि भुक्तिमुक्तिस्पृहा न युक्तेत्युक्तं अतः सुतरामेव सिद्धानां नास्तीत्यभिप्रायस्तु परत्रोभयविध-स्तत्तदुदाहरणेषु ज्ञेयः। व्याप्नोति हृदयं यावद् भुक्तिमुक्तिस्पृहाग्रह इति पाठान्तरं तु सुश्लिष्ठम्। इति श्रीजीवः॥

अन्वय—भुक्ति-मुक्तिस्पृहा-पिशाची (भुक्तिमुक्तिवासनारूपी पिशाची) यावत् (जबतक) हृदि (हृदयमें) वर्त्तते (विद्यमान रहती है), तावत् (तबतक) अत्र (इस स्थानपर—हृदयमें) भक्ति-सुखस्य (भक्ति-सुखका) कथं (किस प्रकार) अभ्युदय (आविर्भाव) भवेत् (हो सकता है)?

अनुवाद—जबतक भुक्ति और मुक्तिकी वासनारूपी पिशाची हृदयमें विद्यमान रहेगी, तबतक भक्ति-सुखका अभ्युदय कैसे होगा?

भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा- इसी परिच्छेदमें १३२ संख्यक पयारकी टीका देखिये। स्पृहा—वासना। पिशाची- एक प्रकारकी अपदेवता, प्रेतयोनि। भुक्ति-मुक्ति-

वासनाको पिशाची कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है—जहाँ पिशाचीका निवास है, उस स्थानके अत्यन्त अपवित्र होनेके कारण जैसे वहाँ किसी भी देवताका निवास नहीं हो सकता, उसी प्रकार जिस हृदयमें भुक्ति-मुक्ति-वासना रहती है, उस हृदयमें भी शुद्धस्वभावा भक्तिमहारानीका निवास नहीं हो सकता। शुद्ध चित्तमें ही प्रेमका आविर्भाव होता है। भुक्ति-मुक्ति-वासना भक्ति-वासनाको अलग हटा देती है। पिशाचग्रस्त व्यक्तिसे झाड़नेवाला ओझा कुछ पूछे तो वह पिशाचकी तरह ही बात करता है—पिशाचसे कोई कुछ पूछे तो पिशाच जो उत्तर देगा, पिशाचद्वारा आविष्ट व्यक्ति भी ओझाके प्रश्नका उसी प्रकारसे उत्तर देता है ; उसके चित्तमें पिशाचके भावको छोड़कर अन्य कोई भी भावका उदय नहीं होता। इसी प्रकार जिसके चित्तमें भुक्ति-मुक्ति-वासना बलवती होती है, उसके चित्तमें भी भक्तिवासना जाग्रत् नहीं हो सकती। भुक्ति-मुक्ति-वासना ही जीवात्माकी स्वरूपगत भक्ति-वासनाको आच्छादित कर लेती है—उसी प्रकार जैसे पिशाचग्रस्त व्यक्तिके अपने भावको पिशाचका भाव आवृत करके रखता है। भक्तिवासना जाग्रत् हुए बिना भक्तिसुखका आस्वादन असम्भव है। भुक्ति-मुक्ति-स्पृहाके साथ जो भजन होगा, वह होगा सगुण भक्ति-योगका भजन ; उसके द्वारा शुद्धाभक्तिकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। जिस प्रकार पिशाची व्यक्तिके मनुष्योचित भावका विकास नहीं होने देती, अपने पिशाचोचित घृणित भावका ही विकास कराती है, उसी प्रकार भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा भी जीवात्माके स्वरूपगत भावके विकासमें बाधा उत्पन्न करती है, अपने प्रभावसे जीवको संसारके तुच्छ सुख-दुःख भोग कराती है। इसीलिये पिशाचीके साथ तुलना दी गई है।

भक्तिके विभिन्न स्तर

साधन-भक्ति हैते हय रतिर उदय।
रति गाढ़ हैले तार 'प्रेम' नाम कय ॥१५१॥

श्रवणादि भक्तिके साधनसे 'रति' भाव हृदयमें उग आता।
जो रतिकी गाढावस्था है उसको ही 'प्रेम' कहा जाता॥

साधन-भक्ति (श्रवण-कीर्तनादि-भक्ति)-अङ्गोंके अनुष्ठानका फल बताया जा रहा है। **साधन-भक्ति**—श्रवण-कीर्तनादि। इसका विशेष विवरण सनातन-शिक्षा प्रसङ्गमें परवर्ती बाईसवें परिच्छेदमें देखिये। **रति**—रतिके अन्य नाम हैं **प्रेमाङ्कुर** अथवा प्रीत्याङ्कुर या भाव। रति या भावके लक्षण ये हैं :

शुद्धसत्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥ (भ०र०सि० १।३।१)

प्रेमरूपी सूर्यकी किरणोंके समान अपनी (कृष्ण-प्राप्तिकी अभिलाषा तथा कृष्णकी सौहार्दाभिलाषा आदिरूप) कान्तियोंके द्वारा चित्तके द्रवीभाव (मासृण्य) को उत्पन्न करनेवाला शुद्धसत्व-विशेष (अर्थात् चित्तकी विशुद्ध सत्वप्रधान अवस्था) रूप उस भक्तिको ही 'भाव' कहते हैं।

श्रीकृष्णकी सर्वप्रकाशिका स्वरूपशक्तिकी वृत्तिविशेषको **शुद्धसत्व*** कहा जाता है।

---

* ह्लादिनी-संधिनी-संविदात्मिका चिच्छक्तिके जिस स्वप्रकाशलक्षण वृत्ति-विशेषके द्वारा भगवान् एवं उनका स्वरूप या उनकी स्वरूपशक्तिकी परिणति परिकरादि विशेषरूपसे प्रकाशित या आविर्भूत हों, उसी वृत्तिविशेषको विशुद्धसत्व कहा जाता है। **तदेवं तस्या मूलशक्तेस्त्र्यात्मकत्वे सिद्धे येन स्वप्रकाशतालक्षणेन तद्वृत्तिविशेषेण स्वरूपं स्वयं स्वरूपशक्तिर्वा विशिष्टं वाविर्भवति तद्विशुद्धसत्वम्। अस्य मायया स्पर्शाभावात् विशुद्धत्वम्। भगवत्-सन्दर्भः।११८।"** मायाके साथ इसका कोई भी संस्पर्श नहीं होनेके कारण इसको विशुद्धसत्व कहा जाता है। इस विशुद्धसत्वमें ह्लादिनी, संधिनी एवं संवित्—इन तीनों ही शक्तियोंके युगपत् समान रूपसे अभिव्यक्त रहनेपर भी उनकी अभिव्यक्तिका परिमाण सर्वत्र समान नहीं रहता; किसी स्थानमें तीनों शक्तियाँ सम परिमाणमें अभिव्यक्त होती हैं और किसी स्थानमें कोई-सी एक शक्ति अधिक परिमाणमें अभिव्यक्त होती है। विशुद्ध

भाव—इसी शुद्धसत्व-विशेषको भाव कहते हैं, ये ही भावके स्वरूप लक्षण हैं। यह भाव प्रेमरूपी सूर्यकी किरणके समान है—सूर्यके उदय होनेके

सत्वमें जब संधिनी शक्तिकी अभिव्यक्ति ही प्रधानता प्राप्त करती है, तब उसको **आधार-शक्ति** कहते हैं। इस संधिन्यंश-प्रधान विशुद्धसत्वकी—आधार-शक्तिकी—परिणति ही भगवद्धामादि एवं श्रीकृष्णके माता-पिता, शय्या, आसन पादुकादि हैं। विशुद्धसत्वमें जब संवित्-शक्तिकी अभिव्यक्ति प्रधानताको प्राप्त होती है, तब उसको **आत्मविद्या** कहते हैं। आत्मविद्याकी दो वृत्तियाँ हैं—ज्ञान एवं ज्ञानकी प्रवर्त्तिका। इसके द्वारा उपासकोंका ज्ञान प्रकाशित होता है। विशुद्धसत्वमें जब ह्लादिनीकी अभिव्यक्ति प्रधानताको प्राप्त होती है, तब उसको **गुह्यविद्या** कहते हैं। गुह्यविद्याकी भी दो वृत्तियाँ हैं—भक्ति एवं भक्तिकी प्रवर्त्तिका। इसके द्वारा प्रीत्यात्मिका भक्ति—प्रेम-भक्ति—प्रकाशित होती है। विशुद्धसत्वमें जब तीनों ही शक्तियाँ समान रूपसे अभिव्यक्त होती हैं, तब इस विशुद्धसत्वको **मूर्त्ति** कहते हैं। **इदमेव विशुद्धसत्वं संधिन्यंशप्रधानं चेदाधारशक्तिः। सम्विदंशप्रधानमात्मविद्या। ह्लादिनीसारांशप्रधानं गुह्यविद्या। युगपत्‌शक्तित्रयप्रधानं मूर्त्तिः। भगवत्-संदर्भः।११८॥** शक्तित्रय-प्रधान विशुद्धसत्वद्वारा भगवान्‌का श्रीविग्रह प्रकाशित होता है—भगवान्‌का श्रीविग्रह शक्तित्रयप्रधान शुद्धसत्वमय है—इसलिये इसको **मूर्त्ति** कहते हैं। **"भगवदाख्यायाः सच्चिदानन्दमूर्त्तेः प्रकाशहेतुत्वात् मूर्तिः। भगवत्-संदर्भः॥"**

इस शक्ति-समूहकी फिर दो प्रकारकी स्थिति होती है; (१) मात्र शक्तिरूपसे अमूर्त्त, (२) शक्तिकी केवल अधिष्ठात्री रूपसे मूर्त्त। अमूर्त्तशक्तिरूपसे वे भगवद्विग्रहादिके साथ एकात्मता प्राप्त करके रहती हैं और मूर्त्त अधिष्ठात्री रूपसे वे भगवत्-परिकरादिके रूपमें अवस्थित रहती हैं। **तासां केवल-शक्तिमात्रत्वेन अमूर्त्तानां भगवद्विग्रहाद्यैकात्म्येन स्थितिः, तदधिष्ठात्रीरूपत्वेन मूर्त्तानां तु तत्तदावरणतयेति द्विरूपत्वमपि ज्ञेयमिति दिक्। भगवत्-संदर्भः।११८॥**

समय जिस प्रकार धीरे-धीरे किरणका प्रकाश फैलता है और अन्धकारादि दूर होते जाते हैं, उसी प्रकार प्रेमके प्रथम उदयके आरम्भ होते ही अनर्थादि दूर हो जाते हैं और धीरे-धीरे भगवत्-प्रीति प्रकाशित होती रहती है। इसी अवस्थाको भाव कहते है। इसी भावमें भगवत्-प्राप्तिकी अभिलाषा, भगवान्‌की अनुकूलताकी अभिलाषा और सौहार्दादिकी अभिलाषाके द्वारा चित्तकी स्निग्धता सम्पादित होती है। ये हुए भावके तटस्थ लक्षण। प्रेमकी प्रथम अवस्थाको ही **भाव** कहते हैं।

प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते। इससे अश्रु-पुलकादि सात्विक भाव अल्प मात्रामें उदय होते हैं। **सात्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रु-पुलकादयः। भ० र० सि० १।३।३॥**

साधन-भक्ति इइते इत्यादि श्रवण-कीर्तनादि साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते अनर्थ-निवृत्ति होकर चित्त शुद्ध होनेपर रति या भाव-भक्तिका उदय होता है, अर्थात् श्रीकृष्णप्रेम धीरे-धीरे दिखायी देने लगता है। श्रीकृष्णप्रेम नित्य-सिद्ध है; तो भी मायामुग्ध जीवके मलिन चित्तमें इस प्रेमका आविर्भाव नहीं हो सकता। श्रवण-कीर्त्तनादि द्वारा चित्त शुद्ध होनेपर प्रेम स्वयं अपना प्रकाश करता है। यह आत्म-प्रकाशकी प्रथमावस्था ही रति या भाव है। सनातन-शिक्षाके अभिधेयतत्त्व प्रसङ्गमें मध्यलीलाके २२वें परिच्छेदके ५७ संख्यक पयारकी टीका देखिये।

प्रेमके पूर्णतम विकासकी अवस्थाका नाम **महाभाव** है। आरम्भसे लेकर शेषतक विभिन्न अवस्थाओंके नाम इस प्रकार हैं—

रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव।

प्रेम—कृष्ण-प्रेम-विकासकी द्वितीय अवस्था। रतिकी गाढ़ अवस्थाका नाम है प्रेम।

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥भ०र०सि० १।४।१॥

जिससे चित्त सम्यक् रूपसे स्निग्ध हो एवं जिससे श्रीकृष्णके प्रति अतिशय ममता उत्पन्न हो जाय, उस प्रकारकी गाढ़तासे युक्त भावको पण्डितलोग **प्रेम** कहते हैं।

प्रेम वृद्धिक्रमे नाम—स्नेह, मान, प्रणय।
राग, अनुराग, भाव महाभाव हय ॥१५२॥

क्रम-क्रमसे बढ़ते हुए प्रेमका नाम स्नेह, फिर मान, प्रणय।
फिर राग, पुनः अनुराग, भाव, फिर महाभाव जानो निश्चय ॥

स्नेह—प्रेमके गाढ़ होकर चित्तको द्रवीभूत करनेपर उसका नाम स्नेह होता है। इस स्नेहमें क्षणिक विच्छेद भी सहन नहीं होता।

सान्द्रश्चित्तद्रवं कुर्वन् प्रेमा स्नेह इतीर्यते।
क्षणिकस्यापि नेह स्याद्विश्लेषस्य सहिष्णुता ॥ भ०र०सि०३।२।३३॥

मान—जो स्नेह उत्कृष्टता प्राप्त करनेके कारण नवीन माधुर्यका अनुभव कराये और स्वयं अदाक्षिण्य— विपरीतता अर्थात् कुटिलता धारण करे, उसको मान कहते हैं।

स्नेहस्तूत्कृष्टताव्याप्त्या माधुर्यं मानयन्नवम्।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते ॥ उ० नी० स्था०-७१ ॥

प्रणय—मान यदि विस्रम्भको धारण करे—प्रियजनके साथ अपना अभेद-माने, तब उसको प्रणय कहते हैं।

मानो दधानो विस्रम्भं प्रणयः प्रोच्यते बुधैः। उ० नी० स्था० ॥

यहाँपर विस्रम्भका अर्थ है विश्वास या सम्भ्रमशून्यता। अपने प्राण, मन, बुद्धि, देह और परिधान आदिकी एकताकी भावनाके कारण यह विश्वास उत्पन्न होता है।

राग—प्रणयके उत्कर्षके कारण श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी सम्भावनासे जहाँ अतिशय दुःख भी चित्तमें सुखका अनुभव कराये, वहीं इस प्रणयको राग कहते हैं।

दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते ॥ उ० नी० स्था० ८४ ॥

अनुराग—जो राग नित्य नया बना रहकर चिर अनुभूत प्रियजनको नित्य-नवीन अनुभव कराये— मानो पहले उसे कभी देखा ही न हो, न कभी अनुभव

किया हो, यही प्रथम मिलन है और प्रथम अनुभव है—इस प्रकारकी अनुभूति कराये, उस रागको अनुराग कहते हैं।

सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते ॥उ०नी० स्था० १०२॥

भाव—अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेद्भाव इत्यभिधीयते ॥उ०नी० स्था० १०६॥

अनुराग यदि यावत्-आश्रयवृत्ति—अपने आश्रयकी पराकाष्ठाको प्राप्त होकर, स्व-संवेद्य—अपनी अनुभव-योग्य दशाको प्राप्त होकर प्रकाशमान हो अर्थात् अनुराग सम्पूर्ण पराकाष्ठाको प्राप्त हो जाय और केवल अनुरागवाले व्यक्तिकी स्वानुभव-योग्य दशाको प्राप्त होकर सूद्दीप्त सात्विकादि द्वारा प्रकाशमान हो, तब उस अनुरागको भाव कहते हैं। अनुराग प्रतिक्षण ही बढ़ता रहता है। ज्वारका जल जैसे प्रत्येक तरङ्गमें बढ़ते-बढ़ते नदीको किनारेतक परिपूर्ण कर डालता है, अनुराग भी उसी प्रकार हृदयमें बढ़ता रहता है, बढ़ते-बढ़ते हृदयको परिपूर्ण करके अन्तमें अपने भावमें विभोर होता है, उसकी विपुल तरङ्गमाला प्रकट होती है, तटतक परिपूर्ण होकर अपने गौरवसे अपने-आप ही उच्छ्वसित होती है। अनुरागकी इस अवस्थाका नाम ही भाव है। विशेष विवरण सनातन-शिक्षाके प्रयोजन-तत्त्व प्रसङ्गमें मध्यलीलाके २३वें परिच्छेदके ३७ संख्यक पयारकी टीकामें देखिये।

महाभाव— उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थके मतसे भाव और महाभावमें कोई अन्तर नहीं है; प्रेमकी एक ही अवस्थाके दो नाम हैं—भाव और महाभाव। किंतु कविराज गोस्वामीने भाव और महाभावकी पृथक्ता बतायी है—

ह्लादिनीर सार प्रेम, प्रेमसार भाव। भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव॥
(चै० च० आ० ४।५९)

किंतु उन्होंने भाव और महाभावकी सीमाका कोई भी निर्देश नहीं किया। सनातन-शिक्षाके प्रयोजनतत्त्व प्रसङ्गमें मध्यलीलाके २३वें परिच्छेदके ३७ संख्यक पयारकी टीका देखिये।

जैछे बीज, इक्षु, रस, गुड़, खण्डसार।
शर्करा, सिता, मिश्रि, उत्तममिश्रि आर ॥१५३॥

ज्यों बीज, इक्षु, रस, गुड़ चौथा, फिर खण्डसार होता पञ्चम ।
शर्करा छठी, सातवीं सिता, फिर मिश्री, फिर मिश्री उत्तम ॥

बीज—इक्षु-बीज, ईखका अग्रभाग या इक्षुदण्डका ग्रन्थिस्थित अङ्कुर। **इक्षु** -इक्षुदण्ड, ईख। **रस**—ईखका रस। **गुड़**—ईखके रसको आगपर पकानेसे कुछ गाढ़ा होनेपर गुड़ होता है। **खण्डसार**—गुड़को पकानेसे खाँड तैयार होती है, यह खाँड ही गुड़का सार होती है। 'खण्डसार' एक शब्द है। **शर्करा**—पीली चीनी। **सिता**—सफेद (दानेदार) चीनी। **मिश्रि**—मिश्री। **उत्तम-मिश्रि**—ओला।

जिस प्रकार इक्षुदण्डका बीज मिट्टीमें बोनेसे उससे इक्षुदण्ड उत्पन्न होता है, इक्षुदण्डसे रस, रससे गुड़, गुड़से खण्डसार, खण्डसारसे शर्करा, शर्करासे सिता, सितासे मिश्री और मिश्रीसे ओला बनता है, उसी प्रकार रतिसे प्रेम, प्रेमसे स्नेह, स्नेहसे मान, मानसे प्रणय, प्रणयसे राग, रागसे अनुराग, अनुरागसे भाव और भावसे महाभाव क्रमशः उत्पन्न होते हैं। इनमें उत्तरोत्तर स्वादकी अधिकता है। उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें भी यही उपमा है :—

बीजमिक्षुः स च रसः स गुड़ः खण्ड एव सः।
स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात् सितोपला॥उ०नी० स्था० ४५॥

बीज, इक्षु, रस, गुड़, खण्ड, शर्करा, सिता, सितोपला। चक्रवर्तिपादने टीकामें लिखा है—शर्करा=चीनी, सिता=सितशर्करा या मिश्री, एवं सितोपला= ओला। बीज हुआ रति या प्रेमाङ्कुर, इक्षु हुआ प्रेम, रस हुआ स्नेह, गुड़ हुआ मान, खण्ड हुई प्रणय, शर्करा हुआ राग, सिता अर्थात् मिश्री हुई अनुराग, एवं सितोपला अर्थात् ओला हुआ महाभावस्थानीय। कविराज गोस्वामीकी उपमामें 'मिश्री' शब्द अधिक है ; रति, प्रेम इत्यादिकी गणनामें भी 'भाव' अधिक है।

सनातन-शिक्षाके प्रयोजन-तत्त्व प्रसङ्गमें मध्यलीलाके २३वें परिच्छेदमें २३वें पयारमें—

वीज, इक्षु, रस, गुड़, तबे, खण्डसार। शर्करा, सिता, मिश्री, शुद्ध मिश्रि आर।

—लिखा है। सिता और मिश्रीको एकत्र करके 'सितामिश्री' को एक वस्तु मान लेनेपर उज्ज्वल-नीलमणि और चैतन्य-चरितामृतके वर्णनमें मेल खा जाता है, किंतु उससे कविराज गोस्वामीका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। उज्ज्वल-नीलमणिमें रतिसे लेकर महाभावतक आठ स्तर गिनाये गये हैं, इसीसे बीजसे लेकर सितोपल-तक आठ वस्तुओंके साथ उनकी उपमा दी गयी है। किंतु कविराज गोस्वामीने रतिसे लेकर महाभावतक नौ स्तर—भाव और महाभावको दो पृथक् स्तर मानकर गिने हैं; इसीलिये बीजसे लेकर उत्तम मिश्रीतक नौ वस्तुएँ होनी भी आवश्यक हैं और नौकी संख्या पूरी करनेके लिये सिता और मिश्रीको दो पृथक् वस्तु माननी होगी। 'सिता' शब्दका अर्थ चक्रवर्तिपादके अनुसार मिश्री न करके सफेद चीनी करना पड़ता है।

भक्तिरस और भाव

एइ सब कृष्ण-भक्ति-रसेर स्थायिभाव।
स्थायिभावे मिले यदि विभाव-अनुभाव॥१५४॥

श्रीकृष्ण-भक्ति-रसके ये हैं सब-के-सब स्थायीभाव विदित।
अनुभाव-विभाव-समागम यदि होता है स्थायीभाव सहित॥

सात्विक-व्यभिचारि-भावेर मिलने।
कृष्णभक्ति-रस हय अमृत आस्वादने॥१५५॥

सात्विक-संचारी भावोंका होनेपर इनके साथ मिलन।
श्रीकृष्ण-भक्ति-रस जाता है आस्वादन-योग्य अमृत सम बन॥

एइ सब—पूर्वोक्त रति, प्रेम, स्नेहादि महाभावतक ।

कृष्ण-भक्ति-रस*—यहाँपर कृष्णभक्ति कहनेका तात्पर्य श्रीकृष्णविषयक रतिसे ही लगता है । शर्करा आदिके मिश्रणसे जिस प्रकार दही अपूर्व आस्वाद्य

***कृष्ण-भक्ति-रस**—'भक्तिरस' शब्दमें 'रस' शब्दका अर्थ है आस्वाद्य वस्तु—'**रस्यते आस्वाद्यते इति रसः ।**' किंतु केवल आस्वाद्य वस्तु मात्रको रस-शास्त्रमें रस नहीं कहा गया है । कोई-सी एक आस्वाद्य वस्तु भी यदि अनुकूल अन्य कई एक वस्तुओंके संयोगसे पूर्वापेक्षा अनेकगुनी आस्वाद्य बन जाय और तब उसके आस्वादनमें यदि एक अनिर्वचनीय आनन्द-चमत्कारिता उत्पन्न हो, तभी कहा जाता है कि उक्त वस्तु अनुकूल वस्तुओंके योगसे रसरूपमें परिणत हो गयी ।

चमत्कारिता—चमत्कारिता किसको कहते हैं ? यदि हम अनेक प्रकारकी सुन्दर वस्तुएँ देखें, और उनमेंसे किसी एक वस्तुका सौन्दर्य यदि सर्वोत्कृष्ट और अदृष्टपूर्व हो, तब उसके दर्शनजनित आनन्दसे चित्तकी एक ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप हमारी दोनों आँखें हमारे बिना जाने ही मानो विस्फारित हो उठती हैं । चित्तके आनन्दसे उत्पन्न हुई जिस अवस्थाके कारण आँखोंकी यह स्फारता उत्पन्न होती है, उसीको चमत्कारिता कहते हैं । वस्तुतः आनन्दजनित चित्तकी स्फारता ही आँखोंमें अभिव्यक्त होती है । इससे यह समझा गया कि कोई एक अद्भुत एवं अनिर्वचनीय सुखके अनुभवसे चित्तकी जो स्फारता उत्पन्न होती है, वही चमत्कारिता है ।

किसी अनुकूल वस्तुके संयोगसे किसी भी वस्तुके आस्वादनमें यदि ऐसी एक आनन्द-चमत्कारिता जन्मे, जिसके फलरूपमें समस्त बहिरिन्द्रियों और अन्तरिन्द्रियोंकी वृत्ति इस आनन्द-चमत्कारितामें केन्द्रीभूत हो, और अन्य सभी कार्योंमें इन समस्त इन्द्रियोंकी क्रिया यदि स्तम्भित हो जाय, तो ऐसा होनेपर इस आनन्द-चमत्कारितामय सुखको **रस** कहा जाता है ।

"बहिरन्तःकरणयोर्व्यापारान्तररोधकम् ।
स्वकारणादिसंश्लेषि चमत्कारि सुखं रसः ॥अलङ्कार-कौस्तुभ ५।५॥"

रसका सार—चमत्कारिता ही रसका सार है —चमत्कारिता न रहनेपर

बन जाता है, श्रीकृष्णविषयक रति भी उसी प्रकार विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी भावादिके मिश्रणसे चमत्कारितापूर्ण आस्वाद्य बन जाती है,

---

रसको रसकी श्रेणीमें नहीं गिना जाता। सर्वत्र ही चमत्कारिता साररूपमें गिनी जानेसे सभी रस ही अद्भुत बन जाते हैं।

"रसे सारश्चमत्कारो यं विना न रसो रसः।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्रैवाद्भुतो रसः॥ अलङ्कारकौस्तुभे।५।७॥"

दधि एक आस्वाद्य वस्तु है। इसका अपना एक स्वाद है। किंतु इस स्वादमें आनन्द-चमत्कारिता नहीं उत्पन्न होती। इसलिये केवल दधिको रस नहीं कहा जाता। दधिके साथ यदि चीनी मिला दी जाय, तब उसमें स्वाद अधिक हो जाता है। उसके साथ यदि कर्पूर, इलायची, घृत, मधु प्रभृति वस्तुएँ मिला दी जायँ, तब तो अपूर्व स्वाद और सुगन्धादिके कारण उसके आस्वादनमें एक प्रकारकी आनन्द-चमत्कारिता उत्पन्न होती है; तब वह रसरूपमें परिणत हो गया है—ऐसा कहा जाता है।

इस प्रकार, अन्य वस्तुके संयोगसे दधि जिस प्रकार अपूर्व आस्वादन-चमत्कारिता धारण करके रस रूपमें परिणत होता है, उसी प्रकार भक्ति भी अन्य वस्तुओंके संयोगसे अपूर्व आस्वादन-चमत्कारिता धारण करके रसरूपमें परिणत हो सकती है।

भक्ति स्वतः ही आस्वाद्य है। वह रसमें किस प्रकार परिणत होती है? भक्ति स्वरूपतः ह्लादिनी-प्रधान शुद्धसत्वका वृत्ति-विशेष है। अतः भक्तिका अपना भी एक स्वाद है। आनन्द-स्वरूप होनेके कारण भक्ति स्वतः भी आनन्द-दान कर सकती है और जीव विभिन्न प्राकृत वस्तुओंमें जो-जो आनन्द प्राप्त करता है, उनके समष्टिभूत आनन्दकी अपेक्षा भी—आनन्द-स्वरूपा कृष्णभक्ति या कृष्णरतिका साक्षात्कारजनित आनन्द, जातिमें भी और स्वादाधिक्यमें भी करोड़ोंगुना श्रेष्ठ है। तथापि इस एकमात्र कृष्ण-रतिको ही भक्तिशास्त्र रस नहीं कहता; क्योंकि रसमें इस जातिकी श्रेष्ठता एवं स्वाद-वैशिष्ट्यके अनुरूप आस्वादन-चमत्कारिता नहीं है। किंतु इसके साथ यदि विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी

तभी इस रतिको कृष्ण-भक्ति-रस कहा जाता है। भक्तिरस सब मिलाकर बारह होते हैं ; उनमेंसे सात गौण हैं और पाँच मुख्य हैं। वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, रौद्र और बीभत्स—ये सात तो गौण हैं और शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये पाँच मुख्य भक्तिरस हैं।

भाव मिल जायँ, तब केवल कृष्ण-रतिके आस्वादनमें जो आनन्द पाया गया है एवं पूर्वमें अन्यान्य अनेक आस्वाद्य वस्तुओंके आस्वादनसे भक्तने जो आनन्द प्राप्त किया है, उन सबके समष्टिभूत आनन्दकी अपेक्षा भी करोड़ोंगुना अधिक आनन्द एवं अपूर्व और अनिर्वचनीय ऐसी एक आनन्द-चमत्कारिता उत्पन्न होगी, जिसके फलस्वरूप भक्तकी अन्तरिन्द्रियों और बहिरिन्द्रियोंकी समस्त अनुभवशक्ति सम्पूर्ण रूपसे एकमात्र उसी अपूर्व आनन्दमें एवं अनिर्वचनीय आनन्द-चमत्कारितामें ही केन्द्रीभूत होगी, तभी कृष्णरति रसरूपमें परिणत हुई कही जायगी।

"रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम्।
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि॥
प्रौढ़ानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम्॥ भ०र०सि० २।१।६-७॥"

अनुभवमें आये हुए कृष्णादि-विभावद्वारा आनन्दरूपा रति-रस्यताको प्राप्त करके अपूर्व प्रोढ़ानन्द-चमत्कारकाष्ठाको पहुँच जाती है। उक्त श्लोकके पूर्ववर्ती कई श्लोकोंमें यह विषय और भी स्पष्ट हुआ है।

"अथास्याः केशवरतेर्लक्षिताया निगद्यते।
सामग्रीपरिपोषेण परमा रसरूपता॥
विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्॥भ०र०सि० २।१।१-२॥"

सनातन-शिक्षाके प्रयोजनतत्त्व प्रसङ्गमें मध्यलीलाके २३वें परिच्छेदमें निम्नोद्धृत दो पयार इन श्लोकोंके अनुवाद-तुल्य हैं :—

प्रेमादिक स्थायिभाव सामग्रीमिलने। कृष्णभक्ति रसस्वरूप पाय परिणामे॥
विभाव, अनुभाव, सात्विक, व्यभिचारी। स्थायिभाव रस हय, एइ चारि मिलि॥

स्थायी भाव—हास्य प्रभृति अविरुद्ध भावोंको एवं क्रोधादि विरुद्ध भावोंको वशमें करके जो भाव महाराजाकी तरह विराजता है, उसको स्थायी भाव कहते हैं।

अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन्।

सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते ॥ भ० र० सि० २५।१ ॥

जिस भावके मिश्रणसे, जो रति आस्वादनयोग्य बनकर, भक्तिरसमें परिणत होती है, एवं जो भाव इस भक्तिरसमें नित्य ही प्रधानरूपसे विराजमान है, वही इस भक्तिरसका स्थायी भाव है। इसी प्रकार वीररसका स्थायी भाव है उत्साह ; करुणरसका स्थायी भाव है शोक ; अद्‌भुतका स्थायी भाव है विस्मय ; हास्यका स्थायी भाव है हँसी ; भयानकका स्थायी भाव है भय ; रौद्रका स्थायी भाव है क्रोध एवं बीभत्सका स्थायी भाव है जुगुप्सा—घृणा। और शान्ति रसका स्थायी भाव है शान्त ; दास्यका स्थायी भाव है दास्य ; सख्यका स्थायी भाव है सख्य ; वात्सल्यका स्थायी भाव है वात्सल्य ; एवं मधुर रसका स्थायी भाव है प्रियता।

विभाव—विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते।

विभावोनाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः ॥भ०र०सि०२।१।५॥

जिसके द्वारा एवं जिसमें रति आदि भावोंका आस्वादन किया जाय, उसको **विभाव** कहते हैं। विभाव दो प्रकारका होता है—**आलम्बन** और **उद्दीपन**। आलम्बन भी दो प्रकारका होता है—**विषयालम्बन** और **आश्रयालम्बन**। श्रीकृष्ण ही भक्तिके विषय हैं, इसलिये श्रीकृष्णको **विषयालम्बन** कहते हैं ; और भक्तोंमें ही यह भक्ति रहती है, इसलिये श्रीकृष्ण-भक्त हुए **आश्रयालम्बन**। जिसके द्वारा भावका उद्दीपन हो, उसको कहते हैं **उद्दीपन विभाव**। आलम्बन विभावसे अर्थात् श्रीकृष्ण एवं कृष्णभक्तोंसे सम्बन्धित क्रिया, मुद्रा, रूप, भूषण आदि, एवं देश-काल आदि भावका उद्दीपन करते हैं। इसलिये इन सबको उद्दीपन विभाव कहते हैं। मयूर-पिच्छ देखनेपर यदि श्रीकृष्ण-स्मृति उत्पन्न हो तो मयूर-पिच्छ ही उद्दीपन विभाव बन जाता है।

अनुभाव—जिन सब लक्षणोंद्वारा चित्तके भाव बाहर प्रकाशित हो, उन्हींको अनुभाव कहते हैं।

अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः। भ०र०सि० २।२।१॥

नृत्य, गीत, भूमिपर लोट-पोट करना, चीत्कार, गात्र-मोटन (अँगड़ाई), हुंकार जृम्भण (जम्हाई), दीर्घश्वास, लोककी अपेक्षाका त्याग, लारका स्राव, अट्टहास, घूर्णा (चक्कर) और हिक्का (हिचकी) आदि अनुभावोंके द्वारा ही चित्तके सारे भाव बाहर प्रकाशित होते हैं।

सात्विक भाव—अश्रु, कम्प, स्वेद, रोमाञ्च, स्तम्भ, स्वरभेद, वैवर्ण्य और प्रलय अर्थात् मूर्च्छा—ये आठ सात्विक भाव हैं।

अश्रु—हर्ष, क्रोध, एवं विषादादिके कारण बिना यत्नके आँखोंसे जो जल निकलता है, उसको अश्रु कहते हैं। हर्षजनित अश्रु शीतल होते हैं और क्रोधादि-जनित अश्रु उष्ण—गर्म होते हैं। किंतु इन सभी अवस्थाओंमें आँखोंका क्षोभ, रक्तिमा और सम्मार्जनादि होते रहते हैं। नासिका-स्राव अर्थात् नाकसे पानी गिरना इसका अङ्गविशेष है।

कम्प—क्रोध, वित्रास (अतिभय) और हर्ष आदिके कारण शरीरमें जो चञ्चलता उत्पन्न होती है, उसको कम्प कहते हैं।

स्वेद—हर्ष-भय-क्रोधादिके कारण शरीरपर क्लेद या आर्द्रता—पसीना होता है, उसको स्वेद कहते हैं।

रोमाञ्च—आश्चर्यजनक वस्तुका दर्शन, हर्ष, उत्साह और भय आदिके कारण रोमाञ्च होता है। इसमें सब रोमोंका खड़े होना और अङ्गोंका परस्पर संलग्न होना आदि होता है।

स्तम्भ—हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद और अमर्षसे स्तम्भ उत्पन्न होता है। इसमें वाक्य आदिकी शून्यता, निश्चलता, शून्यता आदि उत्पन्न होती हैं, और कर्मेन्द्रियोंकी एवं ज्ञानेन्द्रियोंकी क्रियाओंका लोप हो जाता है।

स्वरभेद—विषाद, विस्मय, क्रोध, आनन्द और भय आदिसे स्वरभेद होता है। इससे स्वरमें विकृति उत्पन्न होती है, वाणी गद्‌गद हो जाती है।

वैवर्ण्य—विषाद, क्रोध और भय आदिके कारण वर्णविकारका नाम वैवर्ण्य है। इसमें मलिनता और कृशता हो जाती है।

प्रलय—सुख और दुःखके कारण चेष्टा-शून्यताका नाम प्रलय या मूर्च्छा है। प्रलयमें भूमि-पतन आदि होते हैं।

व्यभिचारी भाव—

विशेषणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति।

अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिंशद् भावा ये व्यभिचारिणः ॥ भ०र०सि० २।३।१॥

"जो भाव विशेषरूपसे स्थायी भावकी ओर संचरण करें, उनको व्यभिचारी भाव या संचारी भाव कहते हैं।"

वाक्य, भ्रू-नेत्रादि-अङ्ग एवं सत्वसे उत्पन्न भावद्वारा जो भाव प्रकाशित होते हैं, उन सबको व्यभिचारी भाव कहते हैं। ये व्यभिचारी भाव, भावकी गतिका संचारण कराते हैं, इसलिये उनको संचारी भाव भी कहते हैं। संचारी भाव तेंतीस* प्रकारके हैं, जिनके नाम ये हैं :—

(१) निर्वेद, (२) विषाद, (३) दैन्य, (४) ग्लानि, (५) श्रम, (६) मद,

---

(१) **निर्वेद**—महादुःख, विरह, ईर्ष्या और सद्विवेक आदिके द्वारा जनित अपने **अवमानना**-ज्ञान अर्थात् अपने प्रति तुच्छता-बुद्धिको निर्वेद कहते हैं।

(२) **विषाद**—इष्ट वस्तुकी अप्राप्ति, प्रारम्भित कार्यकी असिद्धि, विपत्ति और अपराध आदिसे जो अनुताप होता है, उसका नाम विषाद है।

(३) **दैन्य**—दुःख, त्रास एवं अपराधादिके कारण अपनेको निकृष्ट माननेका नाम दैन्य है।

(४) **ग्लानि**—श्रम, मनकी पीड़ा और रति आदिद्वारा शरीरके ओजका क्षय होनेपर जो दुर्बलता उत्पन्न होती है, उसको ग्लानि कहते हैं। ओज शुक्रसे भी उत्कृष्ट धातु-विशेष है। यह देहको बलिष्ठ और पुष्ट करता है, चन्द्र इसका अधिष्ठातृ देवता है। ग्लानिसे कम्प, अङ्गोंकी जडता, वैवर्ण्य, कृशता और नयनोंकी चपलता आदि होते हैं।

(५) **श्रम**—पथ-भ्रमण, नृत्य और रमणादिद्वारा जनित खेदको श्रम कहते हैं। निद्रा, घर्म (पसीना), अङ्गग्रह, जृम्भा (जम्हाई), दीर्घश्वास आदि इसके लक्षण हैं।

(६) **मद**—ज्ञाननाशक आह्लादको मद कहते हैं। यह दो प्रकारका है—मधुपानजनित और कंदर्प-विकारातिशय-जनित। गति, अङ्ग और वाक्यका स्खलन, आँखोंका घूमना और लाल होना आदि इसके लक्षण हैं।

(७) गर्व, (८) शङ्का, (९) त्रास, (१०) आवेग, (११) उन्माद,

---

(७) **गर्व**— सौभाग्य, रूप, तारुण्य, गुण, सर्वोत्तम आश्रयकी प्राप्ति और इष्टवस्तु-लाभादिके कारण दूसरोंकी अवज्ञाको गर्व कहते हैं। सोल्लुण्ठ वचन (कटु व्यङ्ग), लीलावश उत्तर न देना, निजाङ्ग-दर्शन, अपना अभिप्राय छिपाना, दूसरोंकी बात अनसुनी करना इत्यादि इसके लक्षण हैं।

(८) **शङ्का**—अपनी चोरीका अपवाद, अपराध एवं दूसरेकी क्रूरता आदिसे जो अपना अनिष्ट-दर्शन है, उसको शङ्का कहते हैं। मुखशोष (मुँहका सूखना), विवर्णता, दिशाओंकी ओर देखना, छिपना आदि इसके लक्षण हैं।

(९) **त्रास**—विद्युत्, भयानक प्राणी एवं प्रखर (भयानक) शब्दसे जो क्षोभ उत्पन्न होता हैं, उसका नाम है त्रास। पार्श्वस्थ वस्तुका आलम्बन, रोमाञ्च, कम्प, स्तम्भ, भ्रम आदि इसके लक्षण हैं।

(१०) **आवेग**—जो चित्तमें सम्भ्रम अर्थात् भय आदि जनित त्वरा उत्पन्न करे, उसे आवेग कहते हैं। यह आवेग प्रिय, अप्रिय, अग्नि, वायु, उत्पात, गज, वर्षा और शत्रुसे उत्पन्न होकर आठ प्रकारका होता है। (१) प्रियसे उत्थित आवेगके कारण पुलक, प्रियभाषण, चपलता और अभ्युत्थान आदि होते हैं। (२) अप्रियोत्थ आवेगसे भूमि-पतन, चीत्कार-शब्द, और भ्रमणादि होता है। (३) अग्नि-जनित आवेगसे अत्यन्त व्यस्त गति, कम्प, आँख मीचना और अश्रु आदि होते हैं। (४) वायुजनित आवेगसे अङ्गोंका ढकना, द्रुतगमन, चक्षुमार्जन आदि होते हैं। (५) उत्पात-जनित आवेगसे मुखकी विवर्णता, विस्मय एवं उत्कम्पन आदि होते हैं। (६) गजजनित आवेगसे भागना, उत्कम्प, त्रास और पीछेकी ओर देखना आदि होते हैं। (७) वर्षाजनित आवेगसे कम्प, शीतार्त्ति (ठण्डसे आर्त्त होना) आदि होते हैं। और (८) शत्रुजनित आवेगसे कवच, शस्त्रादिका ग्रहण, गृहसे हटना आदि लक्षण होते हैं।

(११) **उन्माद**—अतिशय आनन्द, आपत्ति और विरह आदिसे होनेवाले चित्तभ्रमको उन्माद कहते हैं। अट्टहास, नृत्य, संगीत, व्यर्थचेष्टा, प्रलाप, दौड़ना, चीत्कार, और विपरीत क्रिया आदि इसके कार्य हैं।

(१२) अपस्मृति, (१३) व्याधि, (१४) मोह,
(१५) मृति, (१६) आलस्य, (१७) जाड्य (जड़ता),

"उन्मादो हृद्भ्रमः प्रौढ़ानन्दायद्विरहादिजः।
अत्राट्टहासो नटनं संगीतं व्यर्थचेष्टितम्।
प्रलापधावनक्रोशविपरीतक्रियादयः॥ भ०र०सि० २।४।३६॥"

(१२) **अपस्मृति**—दुःखसे उत्पन्न धातु-वैषम्यादिके कारण होनेवाले चित्तके विप्लवको अपस्मृति कहते हैं। भूमिपर गिरना, दौड़ना, अङ्गव्यथा, भ्रम, कम्प, मुँहसे झाग निकलना, हाथ इधर-उधर चलाना, एवं उच्च शब्द करना आदि इसके लक्षण हैं।

(१३) **व्याधि**—अतिशय दोष एवं विच्छेद आदि द्वारा जो ज्वरादि उत्पन्न होते हैं, उनका नाम है व्याधि। किंतु यहाँपर तदुत्पन्न भावको ही व्याधि कहते हैं। स्तम्भ, अङ्गशिथिलता, श्वास, उत्ताप, ग्लानि आदि इसके लक्षण हैं।

(१४) **मोह**—हर्ष, विच्छेद, भय और विषाद आदिसे होनेवाली मनकी जो बोधशून्यता है, उसीका नाम मोह है। भूमि-पतन, इन्द्रियोंका अवश होना, भ्रमण, निश्चेष्टता आदि इसके लक्षण हैं।

(१५) **मृति**—विषाद, व्याधि, त्रास, प्रहार एवं ग्लानि आदिके कारण जो प्राणत्याग है, उसीका नाम है मृति। अस्पष्ट वाक्य, देहकी विवर्णता, अल्पश्वास एवं हिचकी आदि इसके लक्षण हैं। नित्य-परिकरोंकी मृतिमें मरणवत् अवस्था दीखती है।

(१६) **आलस्य**—तृप्ति और श्रम आदि करनेकी सामर्थ्य रहते हुए भी कार्य न करनेका नाम है आलस्य। अङ्गमोटन (अँगड़ाई), जम्हाई, कार्यके प्रति द्वेष, आँख मलना, सोना, बैठना, तन्द्रा और निद्रा आदि इसके लक्षण हैं।

(१७) **जाड्य**—इष्ट और अनिष्टका श्रवण, दर्शन, एवं विरह आदिसे उत्पन्न विचार-शून्यताको जाड्य (जडता) कहते हैं। यह मोहके पूर्वकी और पीछेकी अवस्था है। अनिमिष नयन (अपलक दृष्टि), तूष्णीम्भाव (चुपचाप रहना) और विस्मरणादि इसके लक्षण हैं।

(१८) व्रीड़ा (लज्जा), (१९) अवहित्था, (२०) स्मृति,
(२१) वितर्क, (२२) चिन्ता, (२३) मति, (२४) धृति,

---

(१८) **व्रीड़ा**—नवसंगम, अकार्य, स्तुति और अवज्ञा आदिके कारण जो अधृष्टता (लज्जा) उत्पन्न हो, उसका नाम व्रीड़ा है। मौन, चिन्ता, मुखाच्छादन, भूमि-लिखन, अधोमुखता आदि इसके लक्षण हैं।

(१९) **अवहित्था**—किसी कृत्रिम भावद्वारा गोपनीय भावके अनुभावका संवरण करना—इसको अवहित्था कहते हैं। भावप्रकाशक अङ्ग आदिका गोपन, दूसरी ओर दृष्टिपात, वृथाचेष्टा, वाग्भङ्गी आदि इसके लक्षण हैं।

(२०) **स्मृति**—सदृश-वस्तु-दर्शन, अथवा दृढ़ अभ्यासजनित पूर्वानुभूत अर्थकी जो प्रतीति है, उसका नाम स्मृति है। शिरःकम्पन, और भ्रू-विक्षेप आदि इसके लक्षण हैं।

(२१) **वितर्क**– परामर्श और संशय आदिके निमित्तसे जो तर्क उपस्थित हो, उसको वितर्क कहते हैं। भ्रूक्षेप, सिर और अंगुली चालनादि इसके लक्षण हैं।

(२२) **चिन्ता**—अभिलषित विषयकी अप्राप्ति एवं अनभिलषित विषयकी प्राप्तिके निरोधकी जो भावना है, उसका नाम है चिन्ता। निःश्वास, अधोवदन, भूमिविदारण, निद्राशून्यता, विलाप, उत्ताप, कृशता, बाष्प (नेत्रोंका गीलापन), दैन्य आदि इसके लक्षण हैं।

(२३) **मति**—शास्त्रादिके विचारसे उत्पन्न अर्थ-निर्द्धारणको मति कहते हैं। कर्तव्य करनेका निश्चय, संशय और भ्रमका उच्छेद, शिष्य आदिको उपदेश देना, तर्क-वितर्क करना आदि इसके लक्षण हैं।

(२४) **धृति**—ज्ञान, दुःखके अभाव, उत्तम वस्तुकी प्राप्ति अर्थात् भगवत्-प्रेम-प्राप्तिसे होनेवाली जो मनकी पूर्णता (चञ्चलताका अभाव) है, उसका नाम धृति है। इसमें अप्राप्त वस्तु या विनष्ट वस्तुके लिये दुःख नहीं होता।

धृतिःस्यात्पूर्णताज्ञानदुःखाभावोत्तमाप्तिभिः।
अप्राप्तातीतनष्टार्थानभिसंशोचनादिकृत्॥ भ०र०सि० २।४।५६॥

(२५) हर्ष, (२६) औत्सुक्य, (२७) औग्र्य (२८) अमर्ष,
(२९) असूया, (३०) चापल्य, (३१) निद्रा,

---

(२५) **हर्ष**—अभीष्ट वस्तुके दर्शन और लाभादिसे होनेवाली चित्तकी प्रफुल्लताको हर्ष कहते हैं। रोमाञ्च, पसीना, अश्रु, मुखकी प्रफुल्लता, आवेग, उन्माद, जडता, मोह आदि इसकी चेष्टाएँ है।

(२६) **औत्सुक्य**—अभीष्ट वस्तुके दर्शन और प्राप्तिके लिये उत्कण्ठाके कारण विलम्ब जब असह्य हो उठे, तभी उसको औत्सुक्य (उत्सुकता) कहते हैं।

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यमिष्टेक्षाप्तिस्पृहादिभिः। भ०र०सि० २।४।७६॥

(२७) **औग्र्य**—अपराध और दुर्वचन आदिसे उत्पन्न क्रोधको औग्र्य (उग्रता) कहते हैं। वध, बन्ध, सिरका कम्पन, भर्त्सन, ताड़न आदि इसके लक्षण हैं।

(२८) **अमर्ष**—तिरस्कार और अपमानादिसे उत्पन्न असहिष्णुताका नाम अमर्ष है। पसीना, सिरका कम्पन, विवर्णता, चिन्ता, उपायका अन्वेषण, आक्रोश, विमुखता और ताड़ना आदि इसके कार्य हैं।

अधिक्षेपापमानादेः स्यादमर्षोऽसहिष्णुता।
तत्र स्वेदः शिरःकम्पो विवर्णत्वं विचिन्तनम्॥
उपायान्वेषणाक्रोश-वैमुख्योत्ताड़नादयः॥ भ०र०सि०२।४।८०॥

(२९) **असूया**— दूसरेके सौभाग्य और गुणादिके कारण उसके प्रति द्वेषको असूया कहते हैं। ईर्ष्या, अनादर, आक्षेप, सब गुणोंमें दोषारोपण, अपवाद(निन्दा) वक्र-दृष्टि, भृकुटि आदि इसके लक्षण हैं।

(३०) **चापल्य**—राग एवं द्वेषादिसे होनेवाली चित्तकी लघुता या गाम्भीर्य-हीनताको चापल्य (चपलता) कहते हैं। विचारहीनता, पारुष्य (कठोरता) एवं स्वच्छन्द आचरणादि इसके लक्षण हैं।

रागद्वेषादिभिश्चित्तलाघवं चापलं भवेत्।
तत्राविचारपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः॥ भ०र०सि० २।४।८१॥

(३१) **निद्रा**—चिन्ता, आलस्य, स्वभाव और श्रमादि द्वारा चित्तकी वाह्य-वृत्तिके अभावका नाम निद्रा है। अङ्गभङ्ग (अँगड़ाई), जृम्भा, जडता, निश्वास, नेत्रनिमीलन (आँखोंका बंद होना) आदि इसके लक्षण हैं।

(३२) सुप्ति और (३३) बोध। संचारी भावके सम्बन्धमें विशेष विवरण भक्ति-रसामृतसिन्धुकी २।४ लहरीमें देखिये।

अमृत आस्वादने—अमृतके समान स्वादिष्ट और आस्वादनयोग्य। विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी अर्थात् संचारी भाव– इन सब भावोंके मिलनेसे श्रीकृष्ण-विषयक रति अमृतके समान स्वादिष्ट और आस्वादनके योग्य होती है। और तभी यह रति कृष्णभक्तिरस कही जाती है।

जैछे दधि सिता घृत मरीच कर्पूर।
मिलने 'रसाला' हय अमृत-मधुर॥१५६॥

जिस भाँति दही, घृत, गोल मिर्च, कर्पूर, धवल शर्करा तथा।
मिलकर करतीं निर्मित सुमधुर, सुस्वादु रसाला सुधा यथा॥

जैछे—जिस प्रकार। विभावादिके मिलनसे जो भक्तिरस होता है, उसमें उन विभावादिके पृथक्-पृथक् कोई भी अनुभव नहीं रहते, सब मिलकर अपूर्व स्वादयुक्त भक्तिरसका उत्पादन करते हैं– यही बात दृष्टान्तद्वारा इस पयारमें समझाते हैं। दधि, सिता, घृत, मिर्च और कर्पूर मिश्रित करनेसे रसाला (श्रीखण्ड) बनता है। इस रसालामें दधि-घृतादिके पृथक्-पृथक् स्वादका कोई भी अनुभव नहीं होता, अपितु सबके मिश्रणसे एक अपूर्व स्वाद उत्पन्न होता है। इसी प्रकार विभावादिके मिलनेसे भी एक अपूर्व भक्तिरस होता है। **सिता**—मिश्री या सफेद चीनी।

---

(३२) **सुप्ति**– नाना प्रकारकी चिन्ता और नाना विषयकी अनुभूतिके साथ निद्राका नाम सुप्ति (स्वप्न) है। इन्द्रियोंकी अवसन्नता, निश्वास और चक्षु-निमीलनादि इसके लक्षण हैं।

(३३) **बोध**—अविद्या (अज्ञान), मोह और निद्रा आदिके विनाशसे जिस प्रबुद्धता अर्थात् ज्ञानका आविर्भाव होता है, उसको बोध कहते हैं।

पञ्चविध भक्तिरस

भक्तभेदे रतिभेद पञ्च परकार।
शान्तरति दास्यरति सख्यरति आर॥१५७॥

है भक्त-भेद अनुसार पञ्चविध रति भी वर्णित की जाती।
रति प्रथम शान्त, दूसरी दास्य, है सख्य तीसरी कहलाती॥

वात्सल्य-रति, मधुर-रति—ए पञ्च विभेद।
रति-भेदे कृष्ण-भक्तिरस पञ्चविभेद॥१५८॥

चौथी रति है वात्सल्य मधुर पाँचवीं—भेद रतिके ये ही।
श्रीकृष्ण-भक्ति-रस होता है अनुसार पञ्चविध इसके ही॥

भक्तभेदे—पाँच प्रकारके भक्तभेदसे। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन पाँच भावोंसे पाँच प्रकारके भक्त हैं। शान्त-भावके भक्तकी श्रीकृष्णमें जो रति है, उसको कहते हैं शान्त-रति। इसी प्रकार दास्य-भावके भक्तकी रतिको दास्य-रति, सख्य-भावके भक्तकी रतिको सख्य-रति, वात्सल्य-भावके भक्तकी रतिको वात्सल्य-रति और मधुर-भावके भक्तकी रतिको मधुर-रति कहते हैं।

शान्त-रति—शान्त-रतिका गुण है श्रीकृष्णनिष्ठा, कृष्णके अतिरिक्त अन्य कामनाका त्याग। किंतु शान्त भक्तकी श्रीकृष्णमें ममता-बुद्धि नहीं है। श्रीकृष्णके प्रति उसका केवल परमात्मत्व-ज्ञान है। शान्त-रति प्रेमकी सीमातक ही वृद्धिको प्राप्त होती है।

दास्य-रति— दास्य-रतिका गुण है सेवा। दास्य भावके भक्तकी श्रीकृष्णमें निष्ठा तो है ही, इसके अतिरिक्त श्रीकृष्णमें ममता-बुद्धि होनेके कारण श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये उनकी सेवाका भाव भी है। दास्य भावके भक्तकी श्रीकृष्णके प्रति गौरव-बुद्धि है; श्रीकृष्ण मेरे प्रभु हैं, मैं उनका दास हूँ, उनकी

कृपाका पात्र हूँ, यही दास्य-भक्तके भाव हैं। दास्य-रति प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय और रागतक बढ़ती है।

सख्य-रति—सख्य-रतिका गुण है सम्भ्रमशून्यता (भय-शून्यता) या गौरव-बुद्धिहीनता। श्रीकृष्णके सखा ही इस रतिके आश्रय हैं। श्रीकृष्ण उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं—यह ज्ञान सखाओंको नहीं होता। वे श्रीकृष्णको अपने समान मानते हैं। इस प्रकार तुल्यता-ज्ञानका हेतु श्रीकृष्णके प्रति अवज्ञा नहीं है, किंतु श्रीकृष्णमें प्रीति और ममता-बुद्धिकी अधिकता है। इस रतिमें श्रीकृष्ण-निष्ठा है, श्रीकृष्णमें ममता-बुद्धि होनेसे उनकी प्रसन्नताके लिये सेवा है। यह सेवा दास्य-रतिकी सेवाकी तरह गौरव-बुद्धिसे नहीं है, अपितु ममताकी अधिकताके कारण तुल्यता-बुद्धिसे है। कोई सखा वनमें एक फलको मुँहमें लेकर जब देखता है कि वह फल बहुत मीठा है, तब वह उस फलको सखा श्रीकृष्णको दिये बिना नहीं रह सकता; इसीलिये वह अति प्रीतिके साथ उस उच्छिष्ट फलको ही सखा कन्हैयाके मुँहमें देकर कहता है—"भैया कन्हैया! इस फलको खा, खूब मीठा है।" दास्यकी तरह गौरव-बुद्धि रहनेपर वह सखा उच्छिष्ट फल श्रीकृष्णके मुखमें नहीं दे सकता था। श्रीकृष्ण भी उससे बड़े प्रसन्न होते हैं। उन्होंने कहा है—"जो मुझे छोटा मानता है, अधिक-से-अधिक समान मानता है, कभी भी बड़ा नहीं मानता, मैं सर्वथा उसके अधीन रहता हूँ (चै० च० आ० ४।२०)।" सख्य-रति विश्वासमय है। सुबलादि सखावर्ग इसी रतिके आश्रय हैं। सख्य-रति प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुरागतक वृद्धि पाती है।

वात्सल्य-रति—वात्सल्य-रतिके भक्तगण अपनेको श्रीकृष्णकी अपेक्षा बड़ा मानते हैं एवं श्रीकृष्णको अपने अनुग्रहका और आशीर्वादका पात्र मानते हैं। जैसे—नन्द, यशोदा आदि। प्रीति और ममताकी अधिकतासे ही इस प्रकारका भाव है। श्रीकृष्णके मङ्गलके लिये वे लोग श्रीकृष्णका ताड़न-भर्त्सन आदि भी करते रहते हैं। सख्य-रतिसे वात्सल्यकी विशेषता यही है कि सख्यरतिकी प्रीतिमें विश्वास रखना आवश्यक होता है, अर्थात् "हम श्रीकृष्णके साथ समानताका व्यवहार करते हैं, उनके मुखमें उच्छिष्ट फल देते हैं, उनके कंधेपर चढ़ते हैं, इससे श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं, कभी भी असंतुष्ट नहीं होते"—इस प्रकारका विश्वास

सखाओंका है ; यही विश्वास-भावमय सख्य-रति है। जब भी इस विश्वासका अभाव होगा, तभी सख्य-रति संकुचित हो जायगी। किंतु वात्सल्य-रतिमें—इस प्रकारके व्यवहारसे श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे या अप्रसन्न होंगे—यह विचार ही मनमें स्थान नहीं पाता। "श्रीकृष्णके मङ्गलके लिये यह करना आवश्यक है— इसलिये मुझको यह करना ही होगा,—इससे श्रीकृष्ण तुष्ट हों चाहे रुष्ट। कृष्ण तो अबोध बालक है, वह अपना भला-बुरा क्या समझे ? किस वस्तुसे उसकी भलाई होगी, किससे उसकी बुराई होगी—यह मैं समझता हूँ, मैं जानता हूँ। जिससे उसकी भलाई होगी, मैं वही करूँगा ही।" यही वात्सल्य-रतिका भाव है। इस रतिमें श्रीकृष्णको लाल्य समझा जाता है और अपनेको लालक। वात्सल्य-रति प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुरागकी शेष सीमातक वृद्धिको प्राप्त होती है। परवर्ती १८८ संख्यक पयारकी टीका देखिये।

मधुर-रति – अङ्ग-सङ्ग-दानादिद्वारा श्रीकृष्णकी सेवा और प्रीति सम्पादन ही मधुर-रतिका प्रधान गुण है। श्रीकृष्णका प्रेयसी-वर्ग ही इस रतिका आश्रय है। मधुर-रति प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभावतक वृद्धि पाती है। सनातन-शिक्षाके प्रयोजनतत्त्व प्रसङ्गमें इसी मध्यलीलाके २३वें परिच्छेदके ३७ संख्यक पयारकी टीका और इसी परिच्छेदके १८९-१९० संख्यक पयारोंकी टीका देखिये।

ये सब रतियाँ ही रसमें परिणत होकर शान्त-रस इत्यादि नामोंसे परिचित होती हैं।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर रस नाम।
कृष्णभक्ति-रसमध्ये ए पञ्च प्रधान॥१५९॥

हैं शान्त, दास्य-रस, सख्य तथा वात्सल्य, मधुर इनको कहते।
श्रीकृष्ण-भक्ति-रसमें प्रधान ये हैं सबके ऊपर रहते॥

बारह भक्तिरसोंमें शान्तादि पाँच ही प्रधान हैं। पूर्ववर्ती १५४-१५५संख्यक पयारोंकी टीका देखिये।

सात गौण रस

हास्याद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स, भय।
पञ्चविध भक्ते गौण सप्तरस हय॥१६०॥

रस हास्य, करुणरस, वीर, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स, भयानकरस।
ये गौणरूपसे भक्त पञ्चविधमें हरिभक्ति-प्रवर्द्धक रस॥

हास्याद्भुत इत्यादि—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स और भय— ये सात गौण रस हैं। स्वयं-संकोचमयी रति आलम्बनके उत्कर्षजनित जिस भाव-विशेषको प्रकट करती है, उसको गौणी रति कहते है (भ०र०सि० २।५।२२)। हास्यादि सात गौण भक्तिरस शान्तादि पञ्चविध भक्तोंमें ही दृष्ट होते हैं, अन्यत्र नहीं। बारह रसोंके आश्रय ही शान्तादि पञ्चविध भक्त हैं।

हास्य—वाक्य, वेश, और चेष्टादिकी विकृतिके कारण चित्तके विकासको हास्य कहते हैं। नयनोंका विकास, नाक, ओष्ठ और कपालके स्पन्दनादि इसकी चेष्टाएँ हैं (भ०र०सि० २।५।३०)। कृष्णसम्बन्धी-चेष्टा हास्य स्वयं संकोचमयी कृष्णरतिद्वारा अनुगृहीत होनेपर हास्यरति कहा जाता है। यह हास्यरति अपने योग्य विभावादि द्वारा परिपुष्ट होनेपर हास्य-भक्ति-रसमें परिणत होती है (भ०र०सि० ४।१।२)।

अद्भुत— अलौकिक विषय आदिके दर्शन आदिसे चित्तकी जो विस्फारता उत्पन्न होती है, उसको **विस्मय** कहते हैं (भ०र०सि० २।५।३३)। श्रीकृष्ण-सम्बन्धी अलौकिक विषय आदिके दर्शन आदि जनित विस्मय, श्रीकृष्णरतिद्वारा अनुगृहीत होनेपर, विस्मयरति कहा जाता है। अपने योग्य विभावादिद्वारा परिपुष्ट और आस्वाद्य होनेपर विस्मय-रतिको अद्भुत-भक्तिरस कहते हैं। नेत्र-विस्तार-अश्रु-स्तम्भ-पुलकादि इसके अनुभाव हैं। आवेग, हर्ष, जडता आदि संचारी भाव हैं।

वीर—जिनका फल साधुगणकी प्रशंसाके योग्य है, उन युद्धादि कार्योंमें

स्थिरतर मनकी आसक्तिको उत्साह कहते हैं (भ०र०सि० २।५।३४)। तनिक-से विलम्बका सहन न होना, धैर्यत्याग और उद्यम आदि इसकी चेष्टाएँ हैं। श्रीकृष्ण-सम्बन्धी युद्धादि कार्योंमें उत्साह, श्रीकृष्णरतिद्वारा अनुगृहीत होनेपर उत्साह-रति कहा जाता है। अपने योग्य विभावादिद्वारा परिपुष्ट और आस्वाद्य होनेपर उत्साह-रतिको वीर-भक्तिरस कहते हैं। स्तम्भादि सात्विक अनुभाव हैं। गर्व, आवेग, धृति, व्रीड़ा, मति, हर्ष, स्मृति आदि संचारीभाव हैं।

करुण—इष्ट-वियोगादि द्वारा चित्तके क्लेशकी अतिशयताको शोक कहते हैं (भ०र०सि० २।५।३५)। श्रीकृष्ण-सम्बन्धी शोक, श्रीकृष्णरतिद्वारा अनुगृहीत होनेपर शोकरति कहलाता है। आत्मोचित विभावादिद्वारा पुष्ट होनेपर शोक-रतिको करुण-भक्तिरस कहते हैं। मुखशोष, विलाप, स्रस्त-गात्रता (शरीरकी शिथिलता), श्वास, क्रोशन (कोसना), भू-पतन और वक्ष-ताड़न (छाती पीटना) आदि अनुभाव हैं। जाड्य (जडता)-निर्वेदादि संचारी भाव हैं।

रौद्र—प्रतिकूलता-जनित चित्तकी जलनको क्रोध कहते हैं (भ० र० सि० २।४।३६)। श्रीकृष्ण-सम्बन्धी प्रतिकूलता आदिसे उत्पन्न क्रोध श्रीकृष्णरतिद्वारा अनुगृहीत होनेपर क्रोधरति कहलाता है। अपने योग्य विभावादिद्वारा भक्त-हृदयमें पुष्टिलाभ करनेपर क्रोधरति रौद्र-भक्तिरसमें परिणत होती है। रक्त-नेत्रता (आँखकी लालिमा), ओष्ठदंशन (ओठ चबाना), मौन आदि इसके अनुभाव हैं। स्तम्भ आदि सात्विक भाव हैं। आवेश-जडता-गर्व आदि संचारी भाव हैं।

बीभत्स—अहृद्य (हृदयको अरुचिकर) वस्तुके अनुभव-जनित चित्त-निमीलनको जुगुप्सा (घृणा) कहते हैं (भ०र०सि० २।५।३९)। श्रीकृष्णरतिद्वारा अनुगृहीत जुगुप्साको जुगुप्सारति कहते हैं। अपने योग्य विभावादिद्वारा परिपुष्ट जुगुप्सा-रतिको बीभत्स-भक्तिरस कहते हैं। निष्ठीवन (थूकना), मुख टेढ़ा करना, भागना, कम्प, पुलक आदि अनुभाव हैं। ग्लानि-श्रम-उन्माद-मोह-दैन्य आदि संचारी भाव हैं।

भय— पाप और भयानक-दर्शन आदिद्वारा चित्तकी अतिशय चञ्चलताको भय कहते हैं (भ०र०सि० २।५।३८)। श्रीकृष्णरतिद्वारा अनुगृहीत भयको भयरति कहते हैं। अपने योग्य विभावादिद्वारा परिपुष्ट भयरतिको भयानक-भक्तिरस

कहते हैं। मुखशोष, उच्छ्वास, उद्घूर्णा (चक्कर), रक्षकका अन्वेषण आदि अनुभाव हैं। इसमें अश्रुको छोड़कर शेष सात्विक भाव हैं। त्रास-मरण-आवेग-दैन्य आदि संचारी भाव हैं।

(इनका विशेष विवरण भक्ति-रसामृतसिंधु और प्रीति-संदर्भ अथवा मूल टीकाकारके 'गौड़ीय वैष्णव-दर्शन' ग्रन्थके पञ्चम खण्डमें रसतत्त्व प्रबन्धमें देखिये।)

पञ्चरस स्थायी व्यापि रहे भक्तमने।
सप्त गौण आगन्तुक पाइये कारणे॥१६१॥

स्थायी रस पाँचों व्याप्त सदा रहते हैं भक्त-हृदय भीतर।
पर सप्त गौण रस रहते हैं आते-जाते, कारण पाकर॥

सप्तगौण आगन्तुक—शान्तादि पाँच स्थायी रस जिस प्रकार उन सब भक्तोंके चित्तमें व्याप्त होकर सर्वदा ही वर्तमान रहते हैं, सात गौण भक्तिरस उसी प्रकार सर्वदा वर्तमान नहीं रहते, कोई कारण उपस्थित होनेपर कुछ समयके लिये प्रकटमात्र होते हैं।

अब परवर्ती तीन पयारोंमें किस रसके कौन-कौन प्रसिद्ध भक्त हैं, यह बताया जा रहा है।

शान्त आदि रसोंके पात्र

शान्तभक्त—नव योगेन्द्र, सनकादि आर।
दास्यभाव भक्त—सर्वत्र सेवक अपार॥१६२॥

है शान्तभक्तकी श्रेणीमें योगेन्द्र नवों, सनकादि तथा।
सर्वत्र भक्त अगणित, जिनका मन दास्य-भावकी रज्जु नथा॥

शान्तभक्त इत्यादि—नवयोगेन्द्र और सनकादि शान्त-रसके भक्त हैं।

नवयोगेन्द्र—कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रविड़, चमस और करभाजन—इस नौ व्यक्तियोंको नवयोगेन्द्र कहते हैं।

सनकादि—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार।

दास्यभाव भक्त इत्यादि—भगवान्‌के सर्वत्र जो असंख्य सेवक हैं, वे दास्यरसके भक्त हैं।

शान्तभक्त दो श्रेणीके होते हैं—आत्माराम और तापस। कृष्णकी या कृष्णभक्तकी कृपासे जो आत्माराम और तापस कृष्णभक्ति प्राप्त करते हैं, वे ही शान्तभक्त हैं।

शान्ता स्युः कृष्ण-तत्प्रेष्ठ-कारुण्येन रतिं गताः।
आत्मारामास्तदीयाध्ववद्धश्रद्धाश्च तापसाः ॥भ०र०सि० ३।१।५॥

सनक-सनन्दनादि आत्माराम शान्त भक्त हैं।

आत्मारामास्तु सनक-सनन्दनमुखा मताः ॥ भ०र०सि० ३।१।१०॥

भक्तिके बिना मुक्ति निर्विघ्न नहीं होती, यही विचारकर जो लोग युक्त वैराग्यको स्वीकार करते हैं, साथ ही मुक्तिवासनाका त्याग करते हैं, उनको तापस कहते हैं।

मुक्तिर्भक्त्यैव निर्विघ्नेत्यात्तयुक्त-विविक्तताः।
अनुज्झित-मुमुक्षा ये भजन्ते ते तु तापसाः ॥ भ०र०सि० ३।१।५॥

दास्यभावके भक्त चार श्रेणीके होते हैं—**अधिकृत, आश्रित, पार्षद** और **अनुग** (भ०र०सि० ३।२।४)। ब्रह्मा-शिव-इन्द्रादि देवतागण अधिकृत दास हैं। **आश्रित** भक्त भी तीन प्रकारके होते हैं—**शरणागत, ज्ञाननिष्ठ** और **सेवा-निष्ठ**। कालियनाग, एवं जरासंधके कारागारमें आबद्ध नृपतिगण शरणागत भक्त हैं। जो लोग मुक्ति-कामना-परित्यागपूर्वक श्रीहरिके ही शरणागत हुए हैं, वे **ज्ञाननिष्ठ** हैं—जैसे शौनकादि ऋषिगण। और जो लोग आरम्भसे ही भजनमें आसक्त हैं वे **सेवानिष्ठ** हैं—जैसे राजा बहुलाश्व, इक्ष्वाकु, श्रुतदेव, पुण्डरीक आदि। द्वारकामें उद्धव, दारुक, सात्यकि आदि **पार्षद** भक्त हैं; मन्त्रणा और सारथ्य आदि कार्योंमें नियुक्त रहनेपर भी ये लोग किसी-किसी समय परिचर्या आदि भी करते रहते हैं। कुरुवंशमें भीष्म, परीक्षित, विदुर आदि भी पार्षद भक्त

है। जो लोग सर्वदा प्रभुके सेवाकार्यमें आसक्तचित्त हैं, उनको **अनुग** दास कहते हैं। **अनुग दास** भी दो श्रेणीके होते हैं—**पुरस्थ** (द्वारकाके) **अनुग** और **व्रजस्थ** (व्रजके) **अनुग**। सुयन्त्र, मण्डन, स्तम्ब, सुतम्ब प्रभृति हुए पुरस्थ अनुग; श्रीकृष्णके मस्तकपर छत्रधारण, चँवर डुलाना, ताम्बूल-वीटिका-समर्पणादि द्वारा ये लोग श्रीकृष्णकी सेवा करते रहते हैं। श्रीमद्भागवतके ३।१५।३८ श्लोकस्थ **'हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोलच्छुभ्रातपत्रशशिकेशरशीकराम्बुम्'** इत्यादि उक्तिसे जाना जाता है कि छत्र-चामरादिद्वारा सेवापरायण अनुग-दासभक्त वैकुण्ठमें भी हैं। **सारूप्यादि चतुर्विधा मुक्ति** दो प्रकारकी है—**सुखैश्वर्योत्तरा** एवं **प्रेमसेवोत्तरा** (भ० र० सि० १।२।२९)। जो लोग प्रेमसेवोत्तरा मुक्तिलाभ करते हैं, वे वैकुण्ठ-परिकर-भुक्त दासभक्त हैं। वे भी भगवत्-सेवा करते हैं। अवश्य ही ऐश्वर्य-ज्ञानके कारण उनकी सेवा-वासना सम्यक् रूपसे विकसित नहीं हो सकती। रक्तक, पत्रक, पत्री, मधुकण्ठ प्रभृति हुए व्रजस्थ अनुग। श्रीकृष्णके वस्त्र-परिष्कार करना, अगुरु आदि द्वारा उनके स्नानीय जलको सुवासित करना, ताम्बूल-वीटिका प्रस्तुत करना इत्यादि इनकी सेवा है। विशेष विवरण भक्तिरसामृतसिन्धु ३।२ में देखिये। व्रजमें शुद्धमाधुर्यात्मक भाव होनेके कारण व्रजस्थ अनुगगणकी श्रीकृष्णके प्रति भगवत्ता-बुद्धि नहीं है, प्रभु-ज्ञानसे सेव्य-बुद्धि मात्र है। दूसरे सब प्रकारके दास-भक्तोंके चित्तमें श्रीकृष्णके प्रति भगवत्ता-बुद्धि है।

সখ্যভক্ত—শ্রীদামাদি, পুরে ভীমার্জ্জুন।
বাৎসল্যভক্ত—মাতা, পিতা, যত গুরুজন॥

हैं सखा-भक्त श्रीदामादिक, द्वारकापुरीमें भीमार्जुन।
वात्सल्य-भक्तिकी क्वणित पिता-माता, गुरुजनके उरमें धुन॥१६३॥

सख्यभक्त—व्रजलीलामें श्रीदाम, सुबल, मधुमङ्गलादि एवं द्वारकालीलामें द्वारकापुरीमें भीम, अर्जुन प्रभृति सख्यरसके भक्त हैं। व्रजमें शुद्धमाधुर्यमय सख्य है और द्वारकापुरीमें ऐश्वर्यमिश्रित सख्य।

वात्सल्य-भक्त—माता-पिता प्रभृति श्रीकृष्णके गुरुवर्ग वात्सल्य-रसके आश्रय हैं। नन्द-यशोदा आदि शुद्ध माधुर्यमय वात्सल्य-रसके और देवकी-वसुदेव आदि ऐश्वर्य-मिश्रित वात्सल्य-रसके आश्रय हैं।

मधुररस-भक्त मुख्य—व्रजे गोपीगण।
महिषीगण, लक्ष्मीगण—असंख्य गणन॥

है मधुर भावके भक्तोंमें गोपियाँ मुख्य—व्रजललनाएँ।
महिषीगण, लक्ष्मीगण भी सब, इतनी कि न गिननेमें आयें॥१६४॥

मधुररस-भक्त—व्रजमें गोपीगण, द्वारका आदिमें महिषीगण एवं वैकुण्ठादिमें लक्ष्मीगण मधुर-रसके आश्रय हैं। इन सबमें व्रजगोपीगण ही मधुररसके मुख्य भक्त हैं; क्योंकि उनकी भक्ति ऐश्वर्य-ज्ञानहीन शुद्धमाधुर्यमयी है। महिषीगण और लक्ष्मीगणकी भक्ति ऐश्वर्य-ज्ञानमिश्रित है।

ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा और केवला रतिका स्वरूप

पुन कृष्णरति हय दुइ त प्रकार।
ऐश्वर्य्यज्ञानमिश्रा, केवला भेद आर॥१६५॥

है पुनः कृष्णरति दो प्रकारकी बतलायी, मानी जाती।
ऐश्वर्य-ज्ञान-मिश्रा पहली, केवला दूसरी कहलाती॥

ऐश्वर्य्यज्ञानमिश्रा—जिस कृष्णरतिके साथ श्रीकृष्णका ऐश्वर्यज्ञान—श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, अनन्त ऐश्वर्यके अधीश्वर हैं—इत्यादि ज्ञान मिश्रित रहता है, उसका नाम ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा रति है।

केवला—जिस रतिमें किसी भी प्रकारकी ऐश्वर्यज्ञानकी गन्ध भी मिश्रित नहीं है, जो माधुर्यमयी है, उसीका नाम केवला रति है।

इस दो प्रकारकी रतिके स्थान कहाँ हैं, यह बताते हैं—

गोकुले केवला-रति ऐश्वर्य्य-ज्ञानहीन।
पुरीद्वये, वैकुण्ठाद्ये ऐश्वर्य्य प्रवीण ॥१६६॥

गोकुलमें मात्र केवला रति है, वहाँ नहीं ऐश्वर्य-ज्ञान।
वैकुण्ठ, द्वारका, मथुरामें ऐश्वर्य-भाव ही है प्रधान॥

गोकुले इत्यादि—व्रजमें ऐश्वर्य-ज्ञानहीन केवला-रति होती है।

पुरीद्वये- द्वारकामें और मथुरामें एवं **वैकुण्ठाद्ये**—वैकुण्ठ आदि धामोंमें, **ऐश्वर्य्य प्रवीण**—ऐश्वर्यकी प्रधानता है।

ऐश्वर्य्यज्ञान-प्राधान्ये संकोचित प्रीति।
देखिले ना माने ऐश्वर्य्य—केवलार रीति॥

ऐश्वर्य जहाँ होता प्रधान, संकोच-युक्त है वहाँ प्रीति।
ऐश्वर्य देखकर भी उसको माने न, यही केवला रीति॥१६७॥

ऐश्वर्य्य-ज्ञान प्राधान्ये इत्यादि—जहाँ ऐश्वर्य-ज्ञानकी प्रधानता होती है, वहाँ प्रेम संकुचित होता है और जहाँ ऐश्वर्य-ज्ञानहीन शुद्धमाधुर्यमय प्रेम—केवला-रति होती है, वहाँ ऐश्वर्य देख लेनेपर भी भक्त उस ऐश्वर्यको श्रीकृष्णका ऐश्वर्य नहीं मानता। केवलामें कभी भी प्रीति संकुचित नहीं होती। केवला प्रीतिके ऊपर ऐश्वर्य कोई भी प्रभाव विस्तार नहीं कर सकता।

शान्त-दास्यरसे ऐश्वर्य्य काहाँओ उद्दीपन।
वात्सल्य-सख्य-मधुरे त करे संकोचन॥१६८॥

ऐश्वर्य शान्तरस तथा दास्यका कहीं-कहींपर उद्दीपक।
वात्सल्य, सख्यरस तथा मधुरमें होता पर संकोचजनक॥

शान्त-दास्यरसे इत्यादि—किसी-किसी स्थानपर शान्तरस और दास्यरसके भक्त यदि श्रीकृष्णका ऐश्वर्य देखते हैं, तो उससे श्रीकृष्णके प्रति उनके भावका उद्दीपन होता है। किंतु ऐश्वर्य देखनेपर सख्य, वात्सल्य और मधुर-रसके भक्तोंकी प्रीति उद्दीपित न होकर संकुचित होती है। यहाँपर ऐश्वर्य-ज्ञान-मिश्रित रतिकी बात ही कही गई है। व्रजकी केवला-रतिकी बात नहीं है। परवर्ती तीन पयारोंद्वारा यह समझमें आजायेगा।

वसुदेव-देवकीर कृष्ण चरण वन्दिल।
ऐश्वर्य्यज्ञाने दोंहार मने भय हैल॥१६९॥

वसुदेव-देवकीके चरणोंका किया कंसजित्ने वन्दन।
पर दोनोंका ऐश्वर्य-ज्ञानसे ही हो उठा भयाकुल मन॥

ऐश्वर्य देखनेपर जो वात्सल्य-प्रीति संकुचित होती है, उसीके प्रमाणमें यह पयार है

वसुदेव-देवकीर इत्यादि—कंसका वध करके आनेपर श्रीकृष्णने वसुदेव-देवकीके चरणोंकी वन्दना की, तब

ऐश्वर्य्यज्ञाने इत्यादि—कंस-वधके समय जिस ऐश्वर्यका प्रकाश हुआ था, उसको देखकर एवं कंसके कारागारमें जन्मके बहाने प्रकट होनेके समय जो ऐश्वर्य देखा गया था, उसको स्मरण करके वसुदेव-देवकी—दोनोंके मनमें भयका संचार हुआ।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।४४।५१)—

देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ॥ २७॥

संस्कृतटीका—पुत्रभ्रान्तिं विहाय जगदीश्वराविति ज्ञात्वा शङ्कितौ न सस्वजाते नालिङ्गितवन्तौ किंतु बद्धाञ्जली तस्थतुरित्यर्थः। (स्वामी)

अन्वय—**देवकी** (देवकी) **वसुदेवश्च** (एवं वसुदेवने) **कृतसंवन्दनौ** (प्रणिपात करनेवाले) **पुत्रौ** (दोनों पुत्रोंको) **जगदीश्वरौ** (जगदीश्वर) **विज्ञाय** (जानकर) **शङ्कितौ** (शङ्कित हो) **न सस्वजाते** (आलिङ्गन नहीं किया)।

अनुवाद—देवकी और वसुदेव—दोनोंने पुत्रोंको जगदीश्वर समझा, इसलिये उनके वन्दना करनेपर भी शङ्कावश वे उन दोनों पुत्रोंको आलिङ्गन नहीं दे सके।

पुत्रौ—दोनों पुत्रोंको ; श्रीकृष्ण-बलरामको। रोहिणीनन्दन बलराम और वसुदेवके पुत्र श्रीकृष्ण।

कंसवधके समय कृष्ण-बलरामके ऐश्वर्यको देखकर और कंस-कारागारमें भी जन्मके बाद श्रीकृष्णका ऐश्वर्य देखकर देवकी-वसुदेवने राम-कृष्णको जगदीश्वर समझा था, इससे उनकी वात्सल्य-प्रीति संकुचित हो गयी थी। इसीलिये कंस-वधके उपरान्त श्रीकृष्ण-बलराम आकर जब पिता-माताके रूपमें देवकी-वसुदेवको नमस्कार करके उनके सम्मुख खड़े हुए, तब पुत्र समझकर राम-कृष्णको आलिङ्गन करनेका उन्हें साहस नहीं हुआ।

पूर्व पयारोक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है—

कृष्णेर विश्वरूप देखि अर्ज्जुनेर हैल भय।
सख्यभावे धाष्‍र्ट्य-क्षमाय करिया विनय॥

अवलोक कृष्णका विश्वरूप अर्जुनके मनमें छाया भय।
आचरित धृष्टता सख्योचितकी क्षमा हेतु की दीन-विनय ॥१७०॥

ऐश्वर्य देखनेसे सख्यप्रीति भी संकुचित हो जाती है, यह बताया जा रहा है। श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनका सख्यभाव था ; किंतु कुरुक्षेत्रके युद्धमें अर्जुनने जब श्रीकृष्णके विश्वरूपका दर्शन किया, उसी समय ऐश्वर्यज्ञान जाग्रत् होनेके कारण अर्जुनका सख्यभाव संकुचित हो गया और पहले सखा समझकर श्रीकृष्णके साथ जितने प्रकारके व्यवहार किये थे, उन्हें स्मरणकर अब उसके मनमें आया कि वे सब व्यवहार उसके द्वारा की गयी धृष्टताके परिचायक हुए हैं, इसीलिये उसने उन सब धृष्टताओंके लिये श्रीकृष्णसे क्षमा-प्रार्थना की।

विश्वरूप—श्रीकृष्णने अर्जुनको जो विश्वरूप दिखाया था, उसके अनेक मुख, अनेक नयन, अनेक दिव्य अस्त्र और आभरण, दिव्य माला, दिव्य गन्धानुलेप थे। यह आश्चर्यमय रूप सर्वत्र अवस्थित अनन्त-मूर्तिरूपसे परिदृष्ट हुआ था। इसका तेज एक साथ समुदित सहस्र सूर्यके तेजको भी पराभूत कर रहा था। इस विश्वरूपके देहमें एक ही साथ अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड दिखायी दिये थे। यह सब देखकर अर्जुन विस्मित और भयभीत हो गया था। (गीता ११।१०-१४)। **धार्ष्ट्य**—धृष्टता। **सख्यभावे धार्ष्ट्य**—श्रीकृष्णको अपना सखा मानकर उसने जो व्यवहार किये थे, अब लगता है कि वे सब व्यवहार उस ओरसे की गयी धृष्टता मात्र थे। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके साथ सखाकी तरह व्यवहार करना उसके लिये उचित नहीं हुआ। उन सब धृष्टता-मूलक व्यवहारोंको ही यहाँ '**सख्यभावे धार्ष्ट्य**' कहा गया है। **क्षमाय**—श्रीकृष्णके द्वारा क्षमा कराया।

इस पयारके प्रमाणमें नीचे दो श्लोक उद्धृत हुए हैं—

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (११।४१-४२)

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ २८ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ २९ ॥

संस्कृतटीका—**हन्त हन्तैतादृशमहामहैश्वर्यात्त्वय्यहं कृतमहापराध-पुञ्जोऽस्मीत्यनुतापमाविष्कुर्वन्नाह सखेतीति, हे कृष्णेति। त्वं वसुदेवनाम्नो नरस्यार्द्धरथत्वेनाप्यप्रसिद्धस्य पुत्रः कृष्ण इति प्रसिद्धः। अहंतु नरपतेः**

पाण्डोः अतिरथस्य पुत्रोऽर्जुन इति प्रसिद्धः। हे यादवेति। यदुवंशस्य तव नास्ति राजत्वं मम तु पुरुवंशस्यास्त्येव राजत्वम्। हे सखेति संधिरार्षः। तदपि त्वया सह मम यत्सख्यं तत्र तव पैत्रिकः प्रभावो न हेतुः नापि कौलिकः किंतु तावक एव इत्यभिप्रायतो यत् प्रसभं सतिरस्कारमुक्तं मया तत् क्षामये क्षमयामि इत्युत्तरेणान्वयः। तदेवं विश्वरूपात्मकं स्वरूपमेव महिमानं प्रमादाद्वा प्रणयेन स्नेहेन वा। (चक्रवर्ती। २८)

परिहासार्थं विहारादिषु असत्कृतोऽसि त्वं सत्यवादी निष्कपटः परम सरल इत्यादिवक्रोक्त्या तिरस्कृतोऽसि त्वं एकः सखीन् विनैव रहसि अथवा तत्समक्षं तेषां परिहसतां सखीनां समक्षं पुरतोऽसि यदा स्थितः तदा जातं तत्सर्वमपराधसहस्रं क्षामये हे प्रभो क्षमस्वेत्यनुनयामीत्यर्थः। (चक्रवर्ती। २९)

अन्वय— **तव** (तुम्हारी) **महिमानम्** (महिमाको—इस विश्वरूप-महिमाको) **अजानता** (न जाननेके कारण) **प्रमादात्** (प्रमादवश) **प्रणयेन वा अपि** (अथवा प्रणयवश भी) **सखा** (तुम मेरे सखा हो) **इति** (यह) **मत्वा** (मानकर) **हे कृष्ण हे यादव हे सखेति** (हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा—इत्यादि रूपसे) **मया** (मेरेद्वारा) **प्रसभं** (तिरस्कारके साथ—हँसी-मजाकमें) **यत्** (जो कुछ) **उक्तं** (कहा गया हो), **विहार-शय्यासन-भोजनेषु** (विहार, शयन, उपवेशन, भोजनादिके समय) **एकः** (एकाकी) **अथवा** (अथवा) **तत्समक्षम्** (अन्य सखाओंके समक्ष) **अवहासार्थम्** (परिहास-छलसे) **यत्** (जो कुछ) [**मया**] (मेरेद्वारा) **असत्कृतः** (असत्कृत) **असि** (हुए हो), **तत्** (वह सब) **अहम्** (मैं) **अप्रमेयम्** (अचिन्त्य-प्रभाव-सम्पन्न) **त्वा** (तुमसे) **क्षामये** (क्षमा करनेके लिये प्रार्थना करता हूँ)।

अनुवाद—तुम्हारी इस महिमाको न जानकर प्रमादवश (अवधानतावश, असतर्कतावश), अथवा प्रणयप्रयुक्त सखा-बुद्धिसे, प्रच्छन्न तिरस्कारके रूपमें—हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे प्रभृति जो सब सम्बोधन मैंने किये हैं; विहार, शयन, उपवेशन, भोजन आदिके समय परिहास-छलसे एकाकी अथवा अन्य बन्धुजनोंके समक्ष जो कुछ असत्कार किया है—उन सबको हे अचिन्त्य-प्रभाव-सम्पन्न! तुम क्षमा करो।

कृष्ण यदि रुक्मिणीके कैल परिहास ।
'कृष्ण छाड़िबेन' जानि रुक्मिणीर हैल त्रास ॥

परिहास मात्र था किया कृष्णने यदपि रुक्मिणीसे केवल ।
वैदर्भी 'कृष्ण मुझे देंगे तज' मान हुई भयसे विह्वल ॥१७१॥

ऐश्वर्य-ज्ञानके कारण द्वारकामें मधुर-रति भी संकुचित हुई—यह बता रहे हैं ।

श्रीकृष्णने रुक्मिणीसे परिहास करके कहा था—सुन्दरी! तुम राजकन्या हो, अतः किसी राजपुत्रके साथ ही विवाह करना तुम्हारे लिये उचित था । मैं राजाओंके भयसे समुद्रके बीचमें वास करता हूँ, स्वयं भी राजा नहीं । मुझसे विवाह करके तुम्हारा कोई भला नहीं हुआ । मैं देहसे और गेह—घरसे उदासीन हूँ, स्त्री-पुत्र और धनादिकी आकांक्षासे शून्य हूँ एवं आत्मसुखसे ही सुखी हूँ । इसलिये मुझसे विवाह करके तुमने अदूरदर्शिताका परिचय दिया है । अतएव अपने उपयुक्त किसी भी राजासे तुम फिर विवाह कर लो—इत्यादि । (श्रीम०भा १०।६०।१०-२०) । श्रीकृष्णकी इस प्रकारकी उक्तिको सुनकर, कृष्ण मुझको छोड़ देंगे—इस आशङ्कासे रुक्मिणी भयभीत हुई । त्रास—भय ।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।६०।२४)—

तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धे-
र्हस्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात ।
देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यन्
रम्भेव वातविहता प्रविकीर्य केशान् ॥३०॥

संस्कृतटीका—सुदुःखमप्रियश्रवणात्, भयं त्यागशङ्कया, शोकोऽनुतापः, तैर्विनष्टा बुद्धिर्यस्यास्तस्याः श्लथन्ति पतन्ति वलयानि यस्माद्धस्तात् देहश्च पपात विक्लवा अवशा धीर्यस्यास्तस्याः । (स्वामी)

अन्वय—सुदुःख-भय-शोकविनष्टबुद्धेः (अत्यन्त दुःख, भय और शोकसे हतबुद्धि) **तस्याः** (उसके—रुक्मिणीके) **श्लथद्वलयतः** (शिथिल-कङ्कण) **हस्तात्** (हाथसे) **व्यजनं** (चँवर) **पपात** (गिर पड़ा)। **विक्लवधियः** (हतज्ञान—हतबुद्धि) **तस्याः [रुक्मिण्याः]** (उस रुक्मिणीका) **देहः च** (देह भी) **सहसा एव** (तत्क्षण ही) **मुह्यन्** (मोहको प्राप्त होकर) **केशान्** (केश-समूहको) **प्रविकीर्य** (प्रकृष्ट रूपसे विस्तारित करके—बिखेरकर) **वातविहता** (वाताहत—वायुकी चपेटसे) **रम्भा इव** (कदलीकी तरह) **[पपात]** (भूमिपर गिर पड़ा)।

अनुवाद—अत्यन्त दुःख, भय और शोकसे हतबुद्धि रुक्मिणीके हाथके कङ्कण शिथिल हो गये एवं उनके उस हाथसे व्यजन (चँवर) भूमिपर गिर पड़ा। उनका संज्ञाशून्य देह भी मोहको प्राप्त होकर बिखरे हुए केशोंके साथ, वाताहत (वायुकी चपेटसे) केलेके वृक्षकी तरह, भूमिपर गिर पड़ा।

श्रीकृष्ण ही ईश्वर हैं—यह ज्ञान रुक्मिणी आदि महिषीवर्गको था। श्रीकृष्णने जब कहा—"मैं देह-गेहादिसे उदासीन हूँ, स्त्री-पुत्र धनादिकी आकांक्षासे रहित हूँ, आत्मसुखसे सुखी हूँ इत्यादि", तब रुक्मिणीने समझा—"श्रीकृष्णने तो सत्य ही कहा है—ईश्वर होनेके कारण, वास्तवमें स्त्री-पुत्र आदिसे उनको किसी भी प्रकारकी आकांक्षा रहनेकी सम्भावना नहीं है ; वे तो आत्माराम हैं—स्त्री-पुत्रादिसे उनको प्रयोजन ही क्या है ? अतएव हमलोगोके प्रति उनकी वास्तवमें कोई भी आसक्ति जब नहीं है, तब वे किसी भी समय हमको छोड़कर चले जा सकते हैं।" वस्तुतः तो श्रीकृष्णने रुक्मिणीसे परिहास ही किया था। किंतु रुक्मिणीका श्रीकृष्णके प्रति ऐश्वर्यज्ञान होनेके कारण वे परिहास-वाक्यको भी परिहास नहीं मान सकीं—सत्य ही मान बैठीं। इसीलिये उनकी मधुर-रति संकुचित हो गयी—प्राणवल्लभ श्रीकृष्णको सम्यक्‌रूपसे अब प्राणवल्लभ नहीं मान सकीं। रुक्मिणीने सोचा—"मैं सामान्य नारी हूँ और श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, वे किस प्रकार मेरे प्राणवल्लभ हो सकते हैं ? शिशुपालादि उनसे द्वेष रखते थे, वे लोग मुझे प्राप्त करना चाहते थे, उनका गर्व नष्ट करनेके लिये, उनको अपदस्थ करनेके लिये ही श्रीकृष्ण मुझको ले आये थे—मेरे प्रति विशेष प्रीतिके कारण तो मुझे लाये नहीं थे। शिशुपालादि अपदस्थ हो चुके, श्रीकृष्णका उद्देश्य सिद्ध हो गया,

मुझसे तो उनका कोई प्रयोजन है नहीं, अतएव किसी भी समय वे मेरा त्याग करके जा सकते हैं।" इस प्रकार सोचकर अत्यन्त दुःखसे—श्रीकृष्ण उनको छोड़कर चले जायँगे—इस भय और शोकके कारण रुक्मिणीकी जो अवस्था हुई थी, वही इस श्लोकमें वर्णित है। पूर्व पयारोक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है। १६८ संख्यक पयारमें कहा गया है– ऐश्वर्यज्ञानसे वात्सल्य, सख्य, और मधुर रति संकुचित होती है ; इसके बाद १६९ पयारमें, वात्सल्यरतिका संकोच, १७० पयारमें सख्यरतिका संकोच एवं १७१ पयारमें मधुर-रतिका संकोच दिखाकर, १६८ पयारोक्तिकी यथार्थता प्रतिपन्न की गयी। १६८ वें पयारमें जो द्वारका-मथुराके वात्सल्यादिकी बात कही गयी है, उद्धृत प्रमाण-श्लोक सब उसके प्रमाण हैं।

केवलार शुद्धप्रेम ऐश्वर्य्य ना जाने।
ऐश्वर्य्य देखिलेओ निज सम्बन्ध से माने।१७२।

शुचि प्रेम केवला-रतिका है ऐश्वर्य जानता नहीं कभी।
सम्बन्ध मानता निज केवल ऐश्वर्य प्रकट होनेपर भी॥

पूर्ववर्ती १६७ वें पयारमें बताया गया है कि ऐश्वर्य-ज्ञान-हीन शुद्ध-माधुर्यमयी रतिमें श्रीकृष्णके ऐश्वर्यको साक्षात् प्रकट देखकर भी, भक्त उसको श्रीकृष्णका ऐश्वर्य नहीं मानता एवं उस ऐश्वर्यके कारण उनके सम्बन्धका बन्धन भी शिथिल नहीं होता। यहाँ उसीका प्रमाण बताते हैं।

केवलार—ऐश्वर्य-ज्ञान-हीन केवला-रतिका। जिसमें केवल श्रीकृष्ण-रति या श्रीकृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी सेवा-वासना ही वर्तमान है एवं जिसमें इस सेवा-वासनाके बीच अन्य कुछ भी—स्वसुखवासना आदि, स्वदुःखनिवृत्तिकी वासना आदि, प्रीति-संकोचक ऐश्वर्य-ज्ञान आदि भी—प्रवेश नहीं कर सकते, वही केवला-रति है। जिस रतिमें केवल कृष्णसुख-वासना वर्तमान है, अन्य कुछ भी नहीं है, वही केवला-रति है। **शुद्धप्रेम**—ऐश्वर्य-ज्ञान-शून्य प्रेम। **ऐश्वर्य्य ना**

जाने—श्रीकृष्ण ईश्वर हैं- यह ज्ञान केवला-रतिवाले भक्तोंको नहीं होता ; ऐसे भक्त श्रीकृष्णको अपने समान या अपनी अपेक्षा भी हीन मानते हैं। इसीलिये श्रीकृष्णमें किसी प्रकारका ऐश्वर्य हो सकता है—इस बातका वे विश्वास ही नहीं कर सकते।

ऐश्वर्य्य देखिलेओ इत्यादि—शुद्ध माधुर्यमय भक्तगण श्रीकृष्णको ईश्वर मानें या न मानें, श्रीकृष्णका ईश्वरत्व इससे क्षुण्ण नहीं होता। इस कारणसे आवश्यकतानुसार श्रीकृष्णका ऐश्वर्य प्रकट होता ही रहता है और शुद्धमाधुर्यमय भक्तगण उसको देखते भी रहते हैं। किंतु ऐश्वर्यको साक्षात् प्रकट देखकर भी उसको वे श्रीकृष्णका ऐश्वर्य नहीं मानते, एवं देवकी-वसुदेवकी तरह, या अर्जुनकी तरह, अथवा रुक्मिणीकी तरह, श्रीकृष्णके प्रति उनका सम्बन्धका बन्धन भी शिथिल नहीं होता। आँखके सामने श्रीकृष्णका ऐश्वर्य देख लेनेपर भी नन्द-यशोदा श्रीकृष्णको अपना पुत्र कहनेमें, या सुबल आदि उनको सखा कहनेमें, अथवा व्रजसुन्दरीगण उनको प्राणवल्लभ कहनेमें—या कृष्णके साथ उस प्रकारका व्यवहार करनेमें—किञ्चिन्मात्र भी संकुचित नहीं होते। निम्नोद्धृत श्लोकोंमें इस पयारोक्तिका प्रमाण दिखाया गया है।

तथा हि श्रीमद्भागवते (१०।८।४५)—

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम् ॥३१॥

संस्कृतटीका—मायाबलोद्रेकमाह—त्रय्येति ; त्रय्या कर्मकाण्डरूपया इन्द्रादिरूपेण उपनिषद्भिर्ब्रह्मेति सांख्यैः पुरुष इति योगैः परमात्मेति सात्वतैर्भगवानित्युपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तम्। (स्वामी)

अन्वय—**त्रय्या** (वेदत्रयीके कर्मकाण्डमें—इन्द्रादि देवतारूपसे) **उपनिषद्भिः** (वेदके ज्ञानकाण्डमें—ब्रह्मरूपसे) **सांख्ययोगैः** (सेश्वर सांख्यमें एवं योगमें—पुरुष और परमात्मारूपसे) **सात्वतैः** (नारदपञ्चरात्रादिमें—भगवान्‌रूपसे) **उपगीयमानमाहात्म्यम्** (जिनका माहात्म्य गाया गया है, उन) **हरिं** (हरिको) **सा** (यशोदा) **आत्मजम्** (अपने गर्भसे उत्पन्न पुत्र) **अमन्यत** (मानती थी)।

अनुवाद—वेदत्रयीके संहितांशमें और कर्मकाण्डमें इन्द्रादि देवतारूपसे, उपनिषद् अर्थात् वेदके ज्ञानकाण्डमें ब्रह्मरूपसे, सेश्वर-सांख्यमें पुरुषरूपसे, योगशास्त्रमें परमात्मारूपसे एवं नारद-पञ्चरात्रादि सात्वत शास्त्रमें भगवान्‌रूपसे जिनकी महिमा गायी गई है, उन हरिको यशोदा अपना गर्भजात पुत्र मानने लगी।

श्रीकृष्णके मृद्‌भक्षण-लीला-वर्णन प्रसङ्गमें यह श्लोक कहा गया है। श्रीकृष्णके मुखमें यशोदाने समस्त ब्रह्माण्ड एवं समस्त तत्त्वादि एवं ब्रजमण्डलसहित कृष्णको और अपने आपको भी देखा और देखकर श्रीकृष्णके समस्त तत्त्वोंसे भी वे अवगत हुईं ; किंतु तत्क्षण यशोदाके गाढ़ वात्सल्यप्रेमने उनके तत्त्वज्ञानको प्रच्छन्न कर दिया एवं वात्सल्यकी प्रतिमूर्ति यशोदाने उन श्रीकृष्णको अपनी गर्भजात-संतान मानकर दृढ़ताके साथ उनको अपने वक्षसे लगा लिया।

श्रीकृष्णका ऐश्वर्य देख लेनेपर भी वात्सल्यभावके भक्तकी वात्सल्य-रति संकुचित नहीं होती, यह श्लोक इसीका प्रमाण है।

त्रयी—अमरकोष अभिधानके मतानुसार ऋक्, यजु और साम—इन तीन वेदोंको (वेदके संहितांशको या कर्मकाण्डको त्रयी कहते हैं। वेदके कर्मकाण्डमें ईश्वरका इन्द्रादि देवताके रूपमें ही वर्णन किया गया है। 'त्रयी' शब्दका तृतीयामें त्रय्या होता है। **सात्वत**—नारद-पञ्चरात्रादि शास्त्रको सात्वत शास्त्र कहते हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।९।१४)

तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥३२॥

संस्कृतटीका—**तं मर्त्त्यलिङ्गमधोक्षजं आत्मजं मत्वा बबन्धेति। (स्वामी)**

अन्वय—**गोपिका** (गोपी यशोदाने) **अव्यक्तम्** (अव्यक्त) **मर्त्त्यलिङ्गम्** (मनुष्य-लिङ्ग—नर-तनुधारी) **अधोक्षजम्** (अधोक्षज) **तम्** (उन कृष्णको) **आत्मजम्** (अपना गर्भजात पुत्र) **मत्वा** (मानकर) **प्राकृतम् यथा** (प्राकृत बालककी तरह) **दाम्ना** (रज्जुद्वारा) **उलूखले** (ऊखलसे) **बबन्ध** (बाँध दिया था)।

अनुवाद—गोपिका यशोदाने अव्यक्त, मनुष्यलिङ्ग अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्णको अपना पुत्र मानकर प्राकृत बालककी तरह रज्जुद्वारा ऊखलसे बाँध दिया था।

अव्यक्तम्—अव्यक्तम् ; प्रकट-लीलाकालके अतिरिक्त अन्य समयमें जो अव्यक्त अर्थात् लौकिक आँखोंसे परे रहते हैं ; अथवा प्रेमके कारण जिनका महान् ऐश्वर्य शुद्ध माधुर्यमय भक्तोंके अनुभवका विषय नहीं बनता।

मर्त्यलिङ्गम्—मर्त्यके अर्थात् मनुष्यके-जैसा लिङ्ग अर्थात् शरीर जिनका है ; मनुष्य-शरीर-धारी ; वास्तवमें नरवपु ही श्रीकृष्णका स्वरूप है।

अधोक्षजम्—अधः + अक्षजम् = अधोक्षजम्। **अधः** (अधःकृत) हुआ है अक्षज (इन्द्रिय-जात) ज्ञान जिनसे। इन्द्रियाँ हुई चक्षु, कर्ण, नासिका इत्यादि ; दर्शन हुआ चक्षु-जात ज्ञान ; श्रवण हुआ कर्ण-जात ज्ञान—इत्यादि। प्राकृत इन्द्रियजनित ये सारे ज्ञान अधःकृत हुए हैं जिनसे, वे अधोक्षज। अधः शब्दका अर्थ है निम्न ; इन्द्रियज ज्ञान जिनसे अनेक नीचे अवस्थित है, अतः इन्द्रियज ज्ञान जिनको स्पर्श नहीं कर सकता—अर्थात् प्राकृत चक्षु जिनके दर्शन नहीं पा सकते, प्राकृत कर्ण जिनके वाक्यादि श्रवण नहीं कर सकते, प्राकृत नासिका जिनकी अङ्ग-गन्ध नहीं पाती, प्राकृत रसना जिनके अधरामृतादिका आस्वादन नहीं कर सकती, प्राकृत त्वक् जिनका अङ्ग-स्पर्श नहीं कर पाती, इस प्रकार जो किसी भी प्राकृत इन्द्रियकी उपलब्धिके विषय नहीं हैं—अतः समस्त प्राकृत-इन्द्रियजात ज्ञान अधःकृत हुआ है—बहुत दूर निम्न देशमें अपसारित हुआ है जिनके द्वारा, वे अधोक्षज, वे इन्द्रियातीत। वे अप्राकृत चिन्मय सच्चिदानन्द-विग्रह होनेके कारण ही किसी प्राकृत इन्द्रियके विषय नहीं हैं। प्राकृत वस्तु ही प्राकृत इन्द्रियका विषय हो सकती है, जैसे प्राकृत लोगोंके देह आदि। किंतु 'अप्राकृत वस्तु नहे प्राकृतेन्द्रिय-गोचर'। श्लोकस्थ 'अव्यक्त' एवं 'अधोक्षज' इन दोनों शब्दोंमें उनकी अप्राकृतता, चिन्मयता, एवं सच्चिदानन्दता सूचित होती है। जो ऐसा तत्त्व हैं, वह वास्तवमें किसीका भी 'आत्मज' नहीं हो सकता। वे अज, नित्य शाश्वत, अनादि हैं ; तथापि शुद्ध-वात्सल्यमयी यशोदामाताने अपनी शुद्ध—ऐश्वर्यज्ञानहीन केवला-रतिके प्रभावसे उनको अपना आत्मज माना है

एवं ऐसा तत्त्व स्वरूपतः विभु—सर्वव्यापक है, अतएव बन्धनके अयोग्य होनेपर भी केवला-रतिमयी यशोदा-माता उनको ऊखलमें बाँधनेमें समर्थ हुई थीं। उनकी केवला-रतिके प्रभावसे श्रीकृष्णके विभुत्व आदि ऐश्वर्य भी माधुर्यके अन्तरालमें छिपे हुए हैं। केवला-प्रीतिको ऐश्वर्य संकुचित नहीं कर सकता, बल्कि केवला-प्रीति ही ऐश्वर्यको संकुचित कर सकती है-- यही यहाँ प्रदर्शित हुआ है।
उलूखल—ऊखल, ओखली।

माता यशोदाने मृद्-भक्षणादि लीलामें श्रीकृष्णके अनेक ऐश्वर्य देखे थे, तथापि वे श्रीकृष्णको अपना गर्भजात पुत्र ही मानती थीं, एवं पुत्र समझकर श्रीकृष्णको अपना लाल्य और अपने आपको श्रीकृष्णकी लालन करनेवाली मानतीं। श्रीकृष्णके मङ्गलके उद्देश्यसे अन्याय्य कार्यके लिये उनपर ठीक उसी प्रकार शासन भी करतीं, जिस प्रकार इस जगत्के मनुष्योंमें पुत्रकी हिताकांक्षिणी जननी किया करती है। शिशु कृष्णने एक दिन दधि-मन्थनका भाण्ड फोड़कर, घरके भीतर जाकर, माखन चुराकर स्वयं भी खाया था और बंदरोंको भी खिलाया था। यशोदा माताके यह जान लेनेपर कृष्णके सुधारके लिये बेंत हाथमें लेकर उनके प्रति अग्रसर होते ही, श्रीकृष्ण अन्य द्वारसे भाग गये; किंतु यशोदा माताने उनको पकड़ लिया एवं दुष्कर्मके दण्डस्वरूप, रज्जुद्वारा उनको ऊखलसे बाँध दिया। श्रीकृष्णका ऐश्वर्य देखकर देवकीमाता इतनी संकुचित हुई थी कि श्रीकृष्णको अपना पुत्र माननेका साहस नहीं कर सकीं। किंतु यशोदा माताने श्रीकृष्णको रस्सीद्वारा बाँधतक दिया। ऐश्वर्य-दर्शनसे यदि यशोदा माताकी वात्सल्य-प्रीति संकुचित होती, तो वे कृष्णको बाँधनेकी कल्पना भी नहीं कर सकती थीं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।१८।२४)—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥३३॥

संस्कृतटीका—भगवानितिः भवतां भगवानस्माकं व्रजवासिभिः पराजित इति मर्म व्यज्यते। (श्रीबलदेव विद्याभूषण)

अन्वय—भगवान् कृष्णः (भगवान् श्रीकृष्णने) **पराजितः** (खेलमें पराजित) **सन्** (होकर) **श्रीदामानम्** (श्रीदामाको), **भद्रसेनः च** (एवं भद्रसेनने) **वृषभम्** (वृषभको), **प्रलम्बः** (प्रलम्बने) **रोहिणी-सुतम्** (रोहिणी-सुत बलरामको) **उवाह** (वहन किया था)

अनुवाद—खेलमें पराजित होकर भगवान् श्रीकृष्णने श्रीदामाको, भद्रसेनने वृषभको, तथा प्रलम्बने बलदेवको कंधेपर चढाकर वहन किया था।

श्रीदामा आदि सखाओंने भी श्रीकृष्णके अनेक ऐश्वर्य देखे थे, किंतु फिर भी श्रीकृष्णके प्रति उनका सख्यभाव संकुचित नहीं हुआ ; यदि हो जाता तो श्रीदाम कभी भी श्रीकृष्णके कंधेपर चढ़ नहीं पाते। श्रीकृष्णका ऐश्वर्य देखकर भी सब सखा श्रीकृष्णको अपना सखा ही मानते थे, कभी भी उन्होंने उनको ईश्वर नहीं माना। तभी वे कभी कृष्णको कंधेपर चढ़ाते और कभी श्रीकृष्णके कंधेपर चढ़ते।

ऐश्वर्यज्ञानसे केवला-सख्यरति संकुचित नहीं होती, उसीके प्रमाणमें ऊपरका यह श्लोक है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।३०।३८-३९)—

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः॥
एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति ॥३४॥

संस्कृतटीका—ततो वरिष्ठं मानानन्तरं वनप्रदेशविशेषं तेनैव सह गमनक्रमेणाग्रतो गत्वा दृप्ता गर्विता सती केशवं केशान् तदीयान् वयते ग्रथ्नाति। अत एवाब्रवीत् किं तदाह—न पारये इति। बहुपरिभ्रमणेन परिश्रान्तत्वादिति व्याजमयी हेतुव्यञ्जना। ननु मुग्धे! ताभ्यो दूरमग्रे स्थानान्तरं हृद्यं गन्तव्यमिति चेत्तत्राह—नयेति। पूर्ववदङ्के निधाय त्वमेव नयेत्यर्थः। (श्रीजीव)

स्कन्धे मदंसे (स्कन्धः मदंसः) आरुह्यतामित्याह—इदंच नर्मणैव प्रियामित्युक्तेः, यद्वा कायो मदीयं वक्षः कटीरं वा तथा च विश्वः—स्कन्धः प्रकाण्डे काये च बाहुमूलसमूहयोरिति। (श्रीसनातन)

अन्वय —**ततः** (इसके बाद—इस प्रकार अभिमान होनेके उपरान्त) **वनोद्देशम्** (वनप्रदेशमें आगे) **गत्वा** (गमन करके—जाकर) **दृप्ता** (गर्विता होकर)— **अहम्** (मैं) **चलितुम्** (चल) **न पारये** (नहीं सकती) ; **यत्र** (जहाँपर) **ते** (तुम्हारा) + **मनः** (मन हो—इच्छा हो) **माम्** (मुझको) **नय** (ले जाओ) **[इति]** (इस प्रकार—) **केशवम्** (केशवसे) **अब्रवीत्** (बोली) **एवं** (इस प्रकार) **उक्तः** (कहे जानेपर)— **स्कन्धेम्** (स्कन्धपर—मेरे कंधेपर) **आरुह्यताम्** (आरोहण करो) **इति** (यह)— **प्रियाम्** (प्रियाको) **आह** (बोले) ।

अनुवाद—इस प्रकारके अभिमानके बाद वे श्रीराधा श्रीकृष्णके सहित वनप्रदेशमें गमन करके गर्वित हो श्रीकृष्णसे बोलीं—"मैं और नहीं चल सकती ; अतएव तुम जहाँ जाना चाहो, मुझको वहीं ले चलो ।" उन राधाके इस प्रकार कहनेपर श्रीकृष्णने उनको कहा—"यदि ऐसा ही है, तो तुम मेरे कंधेपर चढ़ जाओ ।"

केशवम्—केशवं केशान् तदीयान् वयते ग्रथ्नाति इति केशवस्तम् । जो श्रीराधाके केश बाँध देते हैं, वे केशव हैं । शारदीय महारासमें श्रीकृष्णके, अन्यान्य गोपियोंको त्यागकर, केवल श्रीराधाके साथ वनमें प्रवेश करनेके अनन्तर एवं वनके बीच लीलाविशेषके पश्चात् श्रीराधाकी कबरी शिथिल हो जानेपर, स्वयं उनकेद्वारा प्रीतिपूर्वक कबरी-बन्धन किये जानेपर, श्रीराधा अन्यान्य व्रजसुन्दरियोंकी अपेक्षा अपनेको श्रेष्ठ मानकर गर्वित हुई थीं । इसीसे श्रीकृष्णके साथ वन-प्रदेशमें गमन करते-करते, (गर्वित) श्रीराधाने श्रीकृष्णसे कहा– "वन-भ्रमणसे मैं परिश्रान्त और क्लान्त हो गयी हूँ, मुझसे और चला नहीं जाता ; अतः जहाँ तुम जाना चाहो, वहाँ मुझे वहन करके ले चलो ।" श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐश्वर्य-ज्ञान होनेपर श्रीराधा कभी भी अपने आपको वहन करके ले जानेकी बात श्रीकृष्णको नहीं कह सकती थीं । रास आदि लीलामें श्रीकृष्णके अनेक ऐश्वर्य श्रीराधाने प्रत्यक्ष देखे थे ; तथापि उनके प्रति श्रीराधाकी मधुरा-रति संकुचित नहीं हुई, उन्होंने श्रीकृष्णको इतनेपर भी प्राणवल्लभ ही माना, ईश्वर नहीं माना—इसीके प्रमाणमें यह ऊपरका श्लोक है ।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।३१।१६)—

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा-
नतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः
कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥३५॥

संस्कृतटीका—तस्मात् हे अच्युत! पतीन् सुतान् अन्वयान् तत्-सम्बन्धिनो भ्रातृन् बान्धवांश्चातिविलङ्घ्य तव समीपमागता वयम्। कथम्भूतस्य? गतिविदोऽस्मदागमनं जानतः गीतगतीर्वा जानतः गतिविदो वयं वा तवोद्गीतेनोच्चैर्गीतेन मोहिताः हे कितव शठ! एवम्भूता योषितो निशि स्वयमागतास्त्वां ऋते कस्त्यजेत् न कोऽपीत्यर्थः। (स्वामी)

अन्वय—**अच्युत**! (हे अच्युत!) **गतिविदः** (गतिवित्—हमारी गति-विधि जाननेवाले) **तव** (तुम्हारे) **उद्गीतमोहिता** (उच्च वेणुगीतसे मोहित) **[वयं]** (हमलोग) **पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान्** (पति, पुत्र, वंश-सम्बन्धी, भ्राता और बान्धवादिका) **अतिविलङ्घ्य** (अतिक्रमण करके) **ते** (तुम्हारे) **अन्ति** (निकटमें) **आगता** (उपस्थित हुई हैं)। **कितव**! (हे कितव—प्रवञ्चक!) **निशि** (रात्रिके समयमें) **कः** (कौन व्यक्ति) **योषितः** (स्त्रियोंका) **त्यजेत्** (परित्याग करेगा)?

अनुवाद—हे अच्युत! तुमको हमारे आगमनका कारण विदित है। हमलोग तुम्हारे वेणुगीतसे मोहित होकर पति, पुत्र, ज्ञाति, भ्राता और बान्धव—सबका अनादर करके तुम्हारे निकट आयी हैं। हे शठ! स्त्रियोंका रात्रिकालमें कौन त्याग करता है? शारदीय महारासमें रासस्थलीसे श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेपर उनके विरहसे परिक्लिष्ट गोपियोंने वनके बीच उनका अन्वेषण करते-करते उनको लक्ष्य करके जो बातें कहीं, उनमेंसे कुछ बातें इस श्लोकमें उल्लिखित हुई हैं। उन्होंने श्रीकृष्णको लक्ष्य करके कहा—"हे अच्युत! किसी भी गुणसे तुम्हारी च्युतिकी बात सुननेमें नहीं आती, तब हमलोगोंके लिये तुम्हारा कारुण्यसे च्युत होना—हमलोगोंके प्रति अकरुण होना—कैसे दीखता है? हमलोगोंके प्रति अकरुण

होकर तुमने हमलोगोंका त्याग क्यों कर दिया ? (इस प्रकारका भाव 'अच्युत' शब्दके सम्बोधनद्वारा व्यञ्जित होता है)। **गतिविदः**—जो उनकी गति जानते हैं। तुम हम सबकी गति जानते हो, अर्थात् हम सब यहाँ तुम्हारे ही लिये आयी हैं, यह तुम जानते हो। तुम्हारे अतिरिक्त हमारे और कोई गति नहीं, यह भी तुम जानते हो। इस प्रकारकी हम **उद्गीतमोहिताः**—तुम्हारे उच्च वंशी-गीतके श्रवणसे मोहित होकर, **पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान्**—अपने पति (जो हमको अपनी पत्नी मानते हैं, उनको), भगिनीपुत्र या भ्रातृपुत्र, अन्वय (कुटुम्बके लोग), भ्राता और बान्धवादि **अतिविलङ्घ्य**– सबके वाक्योंका अतिक्रमण करके, उनके स्नेहादिका परित्याग करके, तुम्हारे **अन्ति**—निकटमें **आगताः**—आयी हैं। वंशीकी उच्च ध्वनिद्वारा तुम ही आवाहन करके हमको ले आये हो और लाकर अब हम सबको इस गहन वनमें छोड़कर, अन्तर्हित हो गये हो। आवाहनके द्वारा हम सबको एकत्रित कर, और फिर त्यागकर चले जाना शठ और प्रवञ्चकका ही कार्य है। तुमने हमारे साथ प्रवञ्चना की है, इसीलिये हम कहती हैं— हे **कितव**—हे शठ ! अब तुम बताओ तो सही, **निशि**—रात्रिकालमें कौन व्यक्ति स्वयं आयी हुई युवती और प्रेमवती **योषितः**—रमणियोंका त्याग करेगा ? कोई भी नहीं करेगा। अतः तुम जो हमको त्यागकर चले गये हो, यह तुम्हारे लिये नितान्त ही अनुचित है ; इसीलिये कहती हैं—हे बन्धु ! एक बार आकर हमलोगोंके प्राण बचाओ।

ऐश्वर्य आदिको देखकर भी श्रीकृष्णके प्रति ब्रजसुन्दरीगणकी मधुरा-रति या कान्तभाव यदि संकुचित होता तो वे कभी भी श्रीकृष्णके प्रति इस प्रकारकी बातें नहीं कह सकती थीं। वे लोग श्रीकृष्णको अपना प्राणवल्लभ ही मानती थीं—यही उक्त वाक्यावलीसे प्रतिपन्न होता है।

शान्त-रसका स्वरूप

शान्तरसे स्वरूपबुद्धेः कृष्णैकनिष्ठता।
'शमो मन्निष्ठता बुद्धेः' इति श्रीमुखगाथा॥

पहचान शान्तरसमें स्वरूप कृष्णैकनिष्ठता है होती।
'शम मुझमें निष्ठामयी बुद्धि'—प्रभु-वदन-शुक्तिके ये मोती ॥१७३॥

इस पयारमें शान्तरसका स्वरूप बता रहे हैं। **स्वरूप-बुद्ध्ये** इत्यादि—श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, श्रीकृष्ण परमात्मा हैं—इस प्रकारकी बुद्धिसे जो कृष्णनिष्ठा होती है, वही शान्तरसका स्वरूप है। चतुर्भुज नारायण शान्त भक्तके उपास्य हैं। **शमो** इत्यादि—'शम्' धातुसे 'शान्ति' शब्द निष्पन्न है ; शान्तिका अर्थ है—शम, और 'शम' शब्दका अर्थ है '**मन्निष्ठता बुद्धेः**—बुद्धिकी भगवन्निष्ठता'। श्रीकृष्णमें बुद्धिकी ऐकान्तिकी निष्ठाको शम या शान्ति कहते हैं। इस प्रकारका शम या ऐकान्तिक निष्ठा जिनमें है, वे ही शान्त भक्त हैं—**इति श्रीमुखगाथा**—यह भगवान्‌की उक्ति है। 'शम' शब्दसे बुद्धिकी कृष्णनिष्ठता समझी जाती है—यह श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही कहा है। 'शम' शब्दसे जो श्रीकृष्णमें ऐकान्तिक निष्ठा समझी जाती है, उसके प्रमाणमें नीचे दो श्लोक उद्‌धृत हुए हैं। पूर्ववर्ती १६२ वें पयारकी टीका देखिये।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिम विभागे
शान्तभक्तिरसलहर्याम् (३।१।२२)—

शमो मन्निष्ठता बुद्धेरिति श्रीभगवद्वचः।
तन्निष्ठा दुर्घटा बुद्धेरेतां शान्तिरतिं विना ॥३६॥

संस्कृतटीका—तत्राह कार्यद्वारा इतिरूपं कारणं लक्ष्यत इति आह तन्निष्ठेति तथापि सामान्यायामेव रतौ लब्धायां विशेषेऽत्र प्रवृतिः प्रसिद्धशमप्राचुर्यात् पर्यवसीयते। (श्रीजीव)।

अन्वय—**बुद्धेः** (बुद्धिकी) **मन्निष्ठता** (मुझमें—श्रीभगवान्‌में निष्ठा ही) **शमः** (शम है)—**इति** (यह) **श्रीभगवद्वचः** (श्रीभगवान्‌के वाक्य हैं)। **एतां** (इस प्रकारकी) **शान्तिरतिं विना** (शान्तिरतिके बिना) **बुद्धेः** (बुद्धिकी) **तन्निष्ठा** (भगवन्निष्ठा) **दुर्घटा** (दुर्घट है)।

अनुवाद—बुद्धिकी मुझमें (मुझ भगवान्‌में) निष्ठाको शम कहते हैं—यह भगवान्‌का वाक्य है। अतएव शान्त-रतिके बिना बुद्धिकी भगवन्निष्ठा असम्भव है।

बुद्धिकी भगवन्निष्ठाको ही जब शम या शान्ति कहते हैं, तब शान्तरति जबतक उत्पन्न नहीं होगी, तबतक वह बुद्धि श्रीभगवान्में निष्ठाको—आत्यन्तिक स्थितिको प्राप्त नहीं हो सकती, यह सहज ही समझमें आ जाता है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (११।१९।३६)—

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।
तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः॥

संस्कृतटीका—मुमुक्षोरुपादेयान् शमादीन् हेयांश्च दुःखादीन् महाजनप्रसिद्धेभ्यो विलक्षणानाह शम इत्यादिना यावत्समाप्ति। एतेनैव तत्तद्विपरीता अशमादयोऽपि उन्नेयाः। शमो मन्निष्ठताबुद्धेर्न तु शान्तिमात्रं, दम इन्द्रियसंयमः न चौरादिदमनं, तितिक्षा विहितदुःखस्य सम्मर्षः सहनं न तु भारादेः। जिह्वोपस्थयोः जयो वेगधारणं धृतिः न त्वनुद्वेगमात्रम्। (स्वामी)।

अन्वय—**बुद्धेः** (बुद्धिकी) **मन्निष्ठता** (मुझमें—श्रीकृष्णमें निष्ठा ही) **शमः** (शम है), **इन्द्रियसंयमः** (इन्द्रिय-संयम ही) **दमः** (दम है), **दुःखसम्मर्षो** (दुःख-सहन ही) **तितिक्षा** (तितिक्षा है); **जिह्वोपस्थजयः** (जिह्वा और उपस्थपर विजय ही) **धृतिः** (धृति है)।

अनुवाद—उद्धवके प्रति श्रीभगवान्ने कहा— मुझमें बुद्धि-वृत्तिकी निष्ठाका नाम शम है, इन्द्रिय-संयमका नाम दम है, दुःख-सहिष्णुताका नाम तितिक्षा है, जिह्वा और उपस्थके वेग-धारणको धृति कहते हैं।

शमः—किसीकी भी बुद्धिकी वृत्ति यदि श्रीभगवान्में ही ऐकान्तिक स्थिति प्राप्त करे, भगवान्को और भगवद्विषयको छोड़कर बुद्धिकी वृत्ति यदि कभी भी अन्य विषयकी ओर न जाय, तो बुद्धि-वृत्तिकी इस अवस्थाको शम कहते हैं। जिनकी बुद्धि-वृत्तिने शमको प्राप्त कर लिया है, उनको कहते हैं **शान्त**।

दमः—चक्षु, कर्ण, नासिका आदि इन्द्रियाँ यदि संयत हो जाँय—चक्षु यदि इन्द्रियभोग्य वस्तुकी ओर जाना न चाहे, कर्ण यदि प्राकृत-सुखदायक शब्द सुननेके लिये उद्ग्रीव न हों, अन्यान्य इन्द्रियाँ भी यदि अपनी-अपनी भोग्य वस्तुकी ओर लालायित न हों, तो इन्द्रियोंकी ऐसी अवस्थाको कहते हैं दम।

तितिक्षा—दुःख सहन करनेकी क्षमताको कहते हैं तितिक्षा।

धृति—जिह्वा और उपस्थके वेगको धारण करनेकी क्षमताको धृति कहते हैं। चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेयादि भोज्यवस्तुके लिये लालसा ही जिह्वाके वेगकी परिचायिका है और यौन संगमकी लालसा ही उपस्थके वेगकी परिचायिका है। जिह्वा और उपस्थकी इस प्रकारकी लालसाको जो जीत लेते हैं, उनमें ही धृति है—ऐसा कहा जाता है।

बुद्धिकी श्रीकृष्णनिष्ठाको ही शम कहते हैं—यह श्रीभगवान्‌ने इस उपर्युक्त श्लोकमें कहा है। इसके पूर्ववर्ती श्लोकमें इसका उल्लेख मात्र किया गया है।

कृष्ण बिना तृष्णात्याग—तार कार्य्य मानि।
अतएव शान्त 'कृष्णभक्त' एक जानि॥ १७४॥

कृष्णेतर-तृष्णा होती सब इसके प्रभावसे परित्यक्त।
अतएव शान्तरस-भावितको जानो अनन्य श्रीकृष्णभक्त॥

शान्तरसके भक्त श्रीकृष्णकामनाके अतिरिक्त अन्य कोई भी कामना नहीं करते, और किसी भी विषयके लिये उनकी तृष्णा या वासना नहीं होती; इसलिये सेवा आदि कार्य न रहनेपर भी, श्रीकृष्णवासनारूप कार्यके रहनेके कारण शान्त-रसका भक्त भी कृष्णभक्त है। **तार कार्य्य**—कृष्णनिष्ठाका कार्य; श्रीकृष्णमें ऐकान्तिक निष्ठा रहनेपर ही श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य विषयके लिये किसी प्रकारकी भी कामना नहीं रह सकती। कृष्णनिष्ठाका फल ही हुआ 'कृष्ण बिना तृष्णात्याग'।

स्वर्ग-मोक्ष कृष्णभक्त 'नरक' करि माने।
कृष्णनिष्ठा, तृष्णात्याग—शान्तेर दुइ गुणे॥

स्वर्गापवर्ग श्रीकृष्णभक्तको लगते यथा नरक-विष्ठा।
हैं विदित शान्तरसके गुण दो—तृष्णाका त्याग, कृष्णनिष्ठा॥ १७५॥

कृष्ण-विषयक तृष्णाके अतिरिक्त अन्य तृष्णा न रहनेके कारण शान्त-भक्त स्वर्ग और मोक्ष (सायुज्य मुक्ति) को नरकके समान मानते हैं। स्वर्ग, मोक्ष और नरक स्वरूपतः समान न होनेपर भी, इन सबसे उन भक्तोंको प्रयोजन न रहनेके कारण, वे उनको समान मानते हैं। कृष्णमें निष्ठा एवं कृष्णके अतिरिक्त अन्य विषयक तृष्णाका त्याग—ये दो शान्तिरतिके गुण हैं। निष्ठा—बुद्धिकी अविचलित स्थिति।

दुइ गुण—कृष्ण-निष्ठा एवं कृष्णके अतिरिक्त अन्य-विषयक तृष्णाका त्याग—ये दो गुण। तृष्णात्याग कृष्ण-निष्ठाका ही कार्य या फल होनेके कारण—जहाँपर भी कृष्णनिष्ठा है, वहीं तृष्णाका त्याग रहनेके कारण, इन दोनों गुणोंको केवल एक ही गुण भी—केवल कृष्णनिष्ठा भी—कहा जाता है; जैसे मधु कहनेसे जिस प्रकार मधु और उसका मीठापन—दोनों ही समझे जाते हैं, उसी तरह कृष्णनिष्ठा कहनेपर कृष्णनिष्ठा और तृष्णात्याग—ये दोनों ही समझे जाते हैं। इन दोनोंका अविच्छेद्यरूपसे परस्पर सम्बन्ध है। दास्य, सख्य और मधुर रसके गुणवर्णनमें परवर्ती पयारोंमें कृष्णनिष्ठा और तृष्णात्याग—इन दोनोंको एकत्र एक ही गुणके रूपमें लिया गया है।

इस पयारोक्तिके प्रमाणमें नीचे एक श्लोक उद्धृत हुआ है—

तथाहि श्रीमद्भागवते (६।१७।२८)—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥२८॥

संस्कृतटीका—स्वर्गादावेव तुल्योऽर्थः प्रयोजनमिति द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा। (स्वामी)।

स्वर्ग इति त्रयाणामेव भक्तिसुखराहित्येनारोचकत्वाविशेषादिति भावः। चक्रवर्ती।

अन्वय—नारायणपराः (नारायण-परायण—नारायणके भक्त) **सर्वे** (सभी) **कुतश्चन** (किसीसे भी) **न बिभ्यति** (भयभीत नहीं होते); [यतः] (क्योंकि) [**ते**] (वे लोग) **स्वर्गापवर्गनरकेषु** (स्वर्ग, मुक्ति और नरकमें) **तुल्यार्थदर्शिनः** (तुल्य प्रयोजनका दर्शन करते हैं—समानता समझते हैं)।

अनुवाद—श्रीनारायणके सभी भक्त किसीसे भी भयभीत नहीं होते ; क्योंकि वे लोग स्वर्ग, मुक्ति और नरकको समान समझते हैं।

महाराज चित्रकेतुने श्रीअनन्तदेवकी कृपासे अतुल ऐश्वर्य प्राप्त करके आकाश-मार्गसे विचरण करते-करते एक दिन देखा कि मुनियोंकी सभामें महादेवजी पार्वतीजीको अपनी गोदमें बैठाकर हाथसे आलिङ्गन किये हुए हैं। यह देखकर चित्रकेतु थोड़ी देरके लिये रुक गये और महादेवजीके प्रति उपहासपूर्वक बोले—"प्राकृत मनुष्य भी जिस आचरणसे लज्जाका अनुभव करते हैं, लोकगुरु एवं धर्म-वक्ता स्वयं महादेव मुनियोंकी सभामें किस प्रकार वैसा आचरण कर रहे हैं!" यह सुनकर गम्भीरचित्त महादेव एवं मुनिलोग चुप हो गये, किंतु जगज्जननी पार्वतीने विद्याधर चित्रकेतुके वाक्यको सहन न कर सकनेके कारण, उनके प्रति रुष्ट होकर, असुर योनि प्राप्त होनेका चित्रकेतुको शाप दे दिया। चित्रकेतु जानते थे कि पार्वतीजीका शाप व्यर्थ नहीं होता, तो भी शाप सुनकर चित्रकेतु किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुए, उसी समय विमानसे उतरकर नतमस्तक हो वे पार्वतीसे बोले—"माँ! तुम्हारा शाप मैं सादर स्वीकार करता हूँ, मेरा कर्मफल मुझे भोगना ही होगा। यह संसार मायामय गुणोंका प्रवाहस्वरूप है ; इसमें शाप हो तो क्या, अनुग्रह हो तो भी क्या ; सुख हो तो भी क्या, दुःख हो तो भी क्या ; स्वर्ग भी क्या, नरक भी क्या, सब कुछ समान है—गुणोंका प्रवाह है। माँ! तुमने मुझे जो शाप दिया है, उसके विमोचनार्थ मैं तुमसे अनुरोध नहीं करता ; किंतु मैंने जो कुछ कहा है, वह वस्तुतः साधु—ठीक होनेपर भी तुमने उसको असाधु—बुरा मान लिया है, कृपा करके उसको तुम क्षमा करदो।" इतना कहकर चित्रकेतु विमानपर चढ़कर चले गये। इसके उपरान्त सब मुनियोंके समक्ष ही सभा-स्थलपर पार्वतीको सम्बोधन करके महादेवजी बोले—"देवी! अद्भुतकर्मा भगवान् श्रीहरिके दासानुदास कितने निःस्पृह होते हैं, इसका एक बार विचार करो ; उनका माहात्म्य देखा तो? प्रियतमे! जो श्रीनारायणके भक्त हैं, वे किसीसे भी भयभीत नहीं होते। स्वर्ग, नरक और मुक्ति—इन तीनोंको ही वे समान समझते हैं। इसीसे तुम्हारे शापसे भी परम भक्त चित्रकेतु किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुए।

नारायणपराः—नारायणनिष्ठ—नारायणमें ही एकमात्र निष्ठा है जिनकी, ऐसे। **सर्व्वे**—सभी ; केवल चित्रकेतु ही नहीं, किंतु चित्रकेतुकी तरह श्रीहरिनिष्ठ जितने लोग हैं, वे सभी। **कुतश्चन न बिभ्यति**—किसी प्रकार भी भयभीत नहीं होते, शाप दो—चाहे नरकमें गिराओ, अथवा प्रह्लादकी तरह साँपके मुखमें अथवा अग्निकुण्डमें अथवा हाथीके पैर तले डाल दो, किसी प्रकार भी भगवद्भक्त विचलित नहीं होते। कारण, वे स्वर्ग, अपवर्ग (मुक्ति) और नरक—इन तीनोंको ही समान समझते हैं। स्वर्गमें भी भक्तिसुख नहीं, मुक्तिमें भी भक्तिसुख नहीं, नरकमें भी भक्तिसुख नहीं ; उनकी एकमात्र काम्य वस्तु है भक्तिसुख। स्वर्ग, मुक्ति और नरक—इन तीनोंमेंसे किसीमें भी भक्ति-सुख नहीं होनेसे तीनों ही उनकी दृष्टिमें समान हैं। स्वाधीनता-सुख चाहने-वाले जो व्यक्ति जेलखानेमें कैद हैं, वे प्रथम श्रेणीके कैदी हों, या द्वितीय श्रेणीके हों अथवा तृतीय श्रेणीके ही हों, जैसे किसीको भी स्वाधीनताका सुख प्राप्त नहीं है, अतः स्वाधीनता-सुखके अभावकी दृष्टिसे सभी श्रेणियाँ जैसे समान हैं, उसी प्रकार जो भक्तिसुख चाहनेवाले हैं, भगवत्-सेवाके अभिलाषी हैं, वे स्वर्गमें रहें या नरकमें रहें अथवा मुक्तिलाभ करें—किसी भी अवस्थामें वे भगवत्-सेवासुख नहीं पा सकते। अतएव भगवत्-सेवासुखके अभावकी दृष्टिसे स्वर्ग, नरक और मुक्ति—तीनों ही समान हैं। जेलखानेके कैदियोंके लिये जिस प्रकार प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणीमें शारीरिक सुख-दुःखका कुछ अन्तर है—उसी प्रकार स्वर्ग, नरक और मुक्तिमें भी शारीरिक सुख-दुःखका तारतम्य है अवश्य ; किंतु सुख-दुःखका सम्बन्ध देहके साथ है। भगवद्भक्तोंमें देहाभिनिवेश न रहनेके कारण, इस सुख-दुःखका तारतम्य उनके चित्तका स्पर्श नहीं कर सकता। स्वाधीनता-प्रयासी कैदी, जेलखानेमें प्रथम श्रेणीकी सुख-सुविधाका भोग करनेपर भी, स्वाधीनता-सुखके अभावमें, सर्वदा जैसे दुःखसे म्रियमाण रहता है, उसी प्रकार भक्ति-सुख-प्रयासी भगवद्भक्त, स्वर्गादिके अतुल भोगोंके बीच रहनेपर भी, भक्तिसुखके अभावजनित दुःखसे सर्वदा जर्जरित होता रहता है।

भक्तगण स्वर्ग और मुक्तिको नरकके समान मानते हैं, इस पूर्ववर्ती पयारोक्तिके प्रमाणमें यह उपर्युक्त श्लोक है।

एइ दुइ गुण व्यापे सब भक्तजने ।
आकाशेर शब्दगुण जेन भूतगणे ॥ १७६॥

रहते हैं पाँचों विधिके सब भक्तोंमें ये दो गुण उदार ।
नभका रहता गुण शब्द व्याप्त पाँचों भूतोंमें जिस प्रकार ॥

एइ दुइ गुण इत्यादि—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन पाँच भावोंके सभी भक्तगणोंमें 'कृष्णनिष्ठा' और 'कृष्णबिना अन्य तृष्णात्याग'—ये दोनों ही गुण वर्तमान हैं। सभी भावोंके भक्तोंमें कृष्णनिष्ठा है और किसी भी भावके भक्तमें श्रीकृष्णवासनाके अतिरिक्त और वासना नहीं है। 'कृष्णनिष्ठा' और 'कृष्णबिना तृष्णात्याग' ये दोनों किस प्रकार सब भक्तोंमें रहते हैं, उसको एक दृष्टान्तद्वारा समझाया जा रहा है। **आकाशेर शब्दगुण** इत्यादि—क्षिति (पृथिवी), अप (जल), पावक (तेज), मरुत् (वायु) और व्योम (आकाश)—ये पंचभूत हैं। इनमें आकाशका गुण है शब्द; वायुका गुण है शब्द और स्पर्श; तेजका गुण है शब्द, स्पर्श और रूप; जलका गुण है शब्द, स्पर्श, रूप और रस; एवं पृथिवीका गुण है शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इससे देखा जाता है कि वायुमें आकाशका गुण शब्द भी है; तेजमें आकाश और वायुके गुण शब्द और स्पर्श हैं; जलमें आकाश, वायु और तेजके गुण शब्द, स्पर्श और रूप हैं; एवं पृथिवीमें आकाश, वायु, तेज और जलके गुण शब्द, स्पर्श, रूप, और रस वर्तमान हैं। इसी प्रकार दास्यमें शान्तके गुण हैं; सख्यमें शान्त और दास्यके गुण हैं; वात्सल्यमें शान्त, दास्य और सख्यके गुण हैं; एवं मधुरमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्यके गुण हैं। आकाशका शब्द गुण जैसे सभी पञ्चभूतोंमें हैं, शान्तके गुण भी वैसे ही पञ्च-रसके भक्तोंमें हैं।

शान्तेर स्वभाव—कृष्णे ममता-गन्धहीन ।
परब्रह्म - परमात्मा - ज्ञान - प्रवीण ॥१७७॥

यह प्रकृति शान्त-रसकी, न कृष्णमें ममता होती रत्तीभर।
वे परम ब्रह्म, वे परमात्मा—बस, यही ज्ञान सबसे बढ़कर॥

ममता-गन्धहीन—मेरेपनके भावको ममता कहते हैं। कृष्ण मेरे ही हैं—यह ज्ञान शान्त-भक्तको नहीं है। शान्त-भक्तको केवल कृष्णका स्वरूपज्ञान होता है (कृष्ण परब्रह्म, परमात्मा हैं, यह ज्ञान ही शान्त-भक्तके लिये प्रधान होता है। ममत्व बुद्धि नहीं होनेके कारण उनके लिये सेवाकार्य नहीं बनता। जो निज-जन नहीं है, उनकी सेवा या प्रीतिके लिये कोई व्यक्ति कोई भी कार्य नहीं करता। ममत्व बुद्धि नहीं होनेसे शान्त भक्तोंका भाव तदीयतामय—मैं श्रीकृष्णका हूँ, मैं उनका अनुग्राह्य हूँ, वे मेरे अनुग्राहक हैं—ऐसा भाव होता है। इस भावकी सेवा साधारणतया कर्त्तव्य-बुद्धिसे ही उद्बुद्ध होती है। प्राणमयी सेवाका अवकाश तदीयतामय भावमें विशेष रूपसे नहीं होता।

परब्रह्म इत्यादि—श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, श्रीकृष्ण परमात्मा हैं—इस प्रकारका ज्ञान ही शान्त-भक्तके मनमें प्रधानतया होता है। परब्रह्म होनेसे श्रीकृष्ण परिपूर्ण भगवान्, षड़ैश्वर्यपूर्ण, आत्माराम हैं; अतः उनको किसी भी अभावका बोध नहीं है, अन्य किसीकी सेवा ग्रहण करनेका प्रयोजन भी उनको नहीं है। वे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके अधीश्वर हैं, मैं क्षुद्रातिक्षुद्र हूँ, उनकी कृपाका भिखारी हूँ, मैं उनकी क्या सेवा करूँगा—इस प्रकारका ही शान्त-भक्तका भाव होता है। शान्त-भक्तके समक्ष श्रीकृष्ण अपने ऐश्वर्यात्मक चतुर्भुजरूपसे ही स्फुरित होते हैं। "श्यामाकृतिः स्फुरति चारुचतुर्भुजोऽयम्; भ०र०सि० ३।१।५॥"

सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग आत्मारामशिरोमणिः।
परमात्मा परं ब्रह्म शमो दान्तः शुचिर्वशी॥
सदास्वरूपसंप्राप्तो हतारिगतिदायकः।
विभुरित्यादिगुणवानस्मिन्नालम्बनो हरिः॥ भ० र० सि० ३।१।५॥

वे परव्योमके अधिपति हैं।

दास्य-रसका स्वरूप

केवल स्वरूपज्ञान हय शान्तरसे।
पूर्णैश्वर्य्य-प्रभुज्ञान अधिक हय दास्ये॥१७८॥

जो भक्त शान्तरसके, उनको केवल स्वरूपका शुद्ध ज्ञान।
पर दास्य-भावमें अपने प्रभु सारे ऐश्वर्योंके निधान॥

केवल स्वरूपज्ञान इत्यादि—शान्त-भक्तको भगवान्‌के केवल स्वरूप-ज्ञानकी अनुभूति होती रहती है। शान्त-योगी-भक्तोंको प्रायः निर्विशेष ब्रह्मानन्द-जातीय सुखका ही अनुभव होता है। भगवान्‌के सर्व-चित्ताकर्षक गुणोंके स्वरूपगत धर्मसे उनके चित्तमें गुण आदिकी स्फूर्ति होती रहती है, और सच्चिदानन्द-विग्रह भगवान्‌की भी स्फूर्ति होती रहती है। किंतु निर्विशेष ब्रह्मानन्द-जातीय सुख अघन (घनत्व-रहित) होता है और सच्चिदानन्द-विग्रह भगवान्‌के अनुभवसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह घन होता है।

प्रायः स्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम्।
किंत्वात्मसौख्यमघनं घनं त्वीशमयं सुखम्॥भ०र०सि० ३।१।४॥

इस प्रकारके अनुभवलभ्य आनन्दके रसरूपमें परिणत होनेके लिये भगवत्-स्वरूपका अनुभव होना (श्रीविग्रहरूपमें भगवत्-साक्षात्कार) ही प्रधान हेतु है। दास्य-भावके भक्तकी तरह भगवान्‌की लीला आदिका मनोज्ञत्व (मनोहरता) इसका प्रधान कारण नहीं है।

तत्रापीशस्वरूपानुभवस्यैवोरुहेतुता।
दासादिवन्मनोज्ञत्वलीलादेर्न तथा मता॥ भ०र०सि० ३।१।६॥

इनको लीलासुखका अनुभव यत्किंचित् ही होता है। शान्त-रसका विशेष विवरण भ०र०सि०३।१में देखिये।

सारूप्यादि चतुर्विध मुक्ति दो प्रकारकी होती है—सुखैश्वर्योत्तरा एवं प्रेम-सेवोत्तरा (भ०र०सि०१।२।१५)। सुखैश्वर्योत्तरा मुक्ति जो लोग प्राप्त करते हैं, प्रतीत होता है, वे ही शान्त भक्त हैं। उनके चित्तमें श्रीकृष्ण-सम्बन्धी ममता-

बुद्धि जाग्रत् नहीं हो सकती, इसलिये लीलासुख भी उनके चित्तको उतना आकृष्ट नहीं कर सकता। भगवान्‌के स्वरूपानुभवजनित आनन्दसे ही वे लोग अपने आपको कृतार्थ समझते हैं। जो मुमुक्षु तापस-शान्त-भक्त हैं (पूर्ववर्ती १६२वें पयारकी टीका देखिये), सम्भवतः उनके चित्तमें ही प्रथमतः निर्विकार ब्रह्मानन्द-जातीय सुखकी अनुभूति होती है। यह निर्विशेष ब्रह्मानन्द नहीं है, किंतु वैसा-सा ही—निस्तरङ्ग, उच्छ्वासहीन, तरल आनन्द है।

पूर्ववर्ती १५२ से १६४ वें पयारोंमें साधारणतया कृष्णरतिका वर्णन किया गया है। फिर १६५-१६९ वें पयारोंमें कृष्णरतिके वैशिष्ट्यका वर्णन है,—यह दो प्रकारकी है, ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा और केवला। शान्तरतिमें ऐश्वर्यज्ञानकी प्रधानता होनेके कारण वह कभी भी केवला नहीं हो सकती। १७३ से १७७ वें पयारोंमें शान्त-रतिसे उत्पन्न शान्तरसका वर्णन है। दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुररति ऐश्वर्यज्ञान-मिश्रा भी हो सकती है एवं केवला भी हो सकती है। द्वारका, मथुरा—दोनों पुरियोंमें ऐश्वर्यज्ञान-मिश्रा है एवं व्रजमें केवला है (१६६ वां पयार)। अब १७८ वें पयारके उत्तरार्द्ध से १८० वें पयारतक दास्यरतिसे उत्पन्न दास्यरसका वर्णन है, जो प्रायः साधारणरूपसे वर्णित हुआ है। इन कई पयारोंकी उक्ति ऐश्वर्यमिश्रित दास्यरसके सम्बन्धमें भी प्रयोज्य है और ऐश्वर्यज्ञानहीन शुद्ध-माधुर्यमय (केवल) दास्यरसके लिये भी प्रयोज्य है; पयारोक्त कुछ शब्दोंका तात्पर्य दोनों भावोंसे ग्रहण करनेपर वह समझमें आ जायगा।

पूर्णैश्वर्य्य-प्रभुज्ञान—१६२ वें पयारकी टीकामें चार श्रेणीके दासभक्तोंकी बात बतायी गयी है। उनमें व्रजके रक्तक-पत्रक आदि अनुगगणको छोड़कर अन्य सभीमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका ज्ञान—श्रीकृष्ण भगवान् हैं, यह ज्ञान विद्यमान है। वे लोग श्रीकृष्णको पूर्णैश्वर्य अर्थात् षड़ैश्वर्यपूर्ण प्रभु (परमेश्वर, सर्वसेव्य) मानते हैं। उनकी रति ऐश्वर्यज्ञानमिश्रित है। द्वारका-मथुराके एवं परव्योमके दासभक्त इसी श्रेणीके हैं। व्रजके रक्तक-पत्रक आदि दासभक्तगणकी केवला रति होनेके कारण श्रीकृष्णकी भगवत्ताका ज्ञान उनको नहीं है। उनकी मान्यता है कि श्रीकृष्ण व्रजेन्द्रनन्दन मात्र—नन्दमहाराजके पुत्र हैं, इससे अधिक वे कुछ नहीं जानते। "ताँरे (कृष्णको) ईश्वर करि नाहि जाने व्रजजन। (चै०च०म०

६।११८)।" लीलाशक्तिके या गाढ़ प्रीतिके प्रभावसे ही श्रीकृष्णके प्रति उनमें भगवत्ताका ज्ञान प्रच्छन्न बना रहता है। उनके चित्तमें भगवत्ताका ज्ञान प्रच्छन्न रहनेके कारण श्रीकृष्णके षड़ैश्वर्यका ज्ञान भी उनके चित्तमें स्थान नहीं पाता। लौकिक व्यवहारमें श्रीकृष्णके साथ उनका जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्धका ज्ञान ही उनके चित्तमें स्थायी भावसे अवस्थित रहता है।

व्रजेन्द्र-नन्दन ताँरे जाने व्रजजन। ऐश्वर्यज्ञान नाहि—निजसम्बन्ध-मनन॥
(चै० च० म० ६।१२०)

सारे व्रज-परिकरोंका—अतः रक्तक-पत्रक आदि दासभक्तोंका भी श्रीकृष्णके लिये ऐसा ही भाव है। रक्तक-पत्रक आदिकी दृष्टिमें श्रीकृष्ण परमेश्वररूपसे उनके प्रभु नहीं हैं, सेव्यरूपसे ही उनके प्रभु हैं और वे उनके दास, सेवक या भृत्य हैं; अतएव केवला-रतिमान् रक्तक-पत्रक आदिके लिये पयारोक्त 'प्रभु' शब्दका अर्थ होगा—सेव्य प्रभु। स्वामीको ईश्वर भी (भगवान् नहीं) कहा जाता है। स्वामी-रूप ईश्वरका– प्रभुका भाव हुआ ऐश्वर्य। रक्तक-पत्रक आदिके लिये उनके प्रभु श्रीकृष्णका यह ऐश्वर्य भगवान्‌का षड़ैश्वर्य नहीं है, परंतु यह ऐश्वर्य होता है स्वामीके सद्‌गुण, शक्ति-सामर्थ्य आदि, कारुण्य आदि, दास-वात्सल्य आदिकी सम्पत्ति (प्रचुरता)। वे मानते हैं– नन्दतनय श्रीकृष्ण उनके सेव्य स्वामी हैं एवं स्वामीके समस्त सद्‌गुण ही पूर्ण मात्रामें उनमें वर्तमान हैं—यही उनके लिये 'पूर्णैश्वर्य-प्रभु-ज्ञान' शब्दका तात्पर्य है।

अधिक हय दास्ये—शान्तकी अपेक्षा दास्यमें उपर्युक्त प्रभुज्ञान अधिक है। दास्यमें शान्तकी कृष्णनिष्ठा तो है ही, साथ ही प्रभुज्ञानसे सेवा भी है। व्रजके केवला-रतिवाले रक्तक-पत्रक आदि भक्तोंमें प्रीतिमय, भृत्यवत्सल स्वामी-रूपसे प्राणमयी-सेवा है और द्वारका-मथुरा आदिके ऐश्वर्यज्ञानमिश्रित दासभक्तोंमें भगवद्‌बुद्धिसे सेवा है। ऐश्वर्यज्ञानद्वारा इनकी सेवा-वासनाका विकास संकुचित हो जानेके कारण इनके लिये सब समय प्राणमयी सेवाका अवकाश रक्तक-पत्रक आदिकी तरह नहीं है।

ईश्वर-ज्ञान सम्भ्रम-गौरव-प्रचुर।
सेवा करि कृष्णे सुख देन निरन्तर॥१७९॥

स्वामित्व-ज्ञानके साथ लगा रहता प्रभूत गौरव, सम्भ्रम।
सेवाके द्वारा सुखी कृष्णको करते दास्य-भक्त हरदम ॥

ईश्वर-ज्ञान—ऐश्वर्यज्ञानमिश्रित दास-भक्तोंके लिये भगवत्ताका ज्ञान। केवला रतियुक्त भक्तोंके लिये सेव्य-स्वामि-बुद्धि।

गौरव—गुरुबुद्धि। व्रजके रक्तक-पत्रक आदिके लिये श्रीकृष्णमें स्वामीरूप गुरुबुद्धि है और द्वारका आदिमें भगवान्‌रूपसे (जगद्‌गुरुरूपसे) गुरुबुद्धि है। **सम्भ्रम**—संकोच।

शान्तेर गुण दास्ये आछे अधिक 'सेवन'।
अतएव दास्य-रसेर हय दुइ गुण ॥१८०॥

अतिरिक्त शान्तरसके गुणके दास्यान्तर्गत सेवा विशेष।
अतएव दास्य-नामक रसके भीतर दो गुणका समावेश ॥

शान्तरसके जो गुण 'कृष्णनिष्ठा' और 'कृष्ण बिना तृष्णात्याग' हैं, व्रजके दास्यमें वे तो हैं ही, इनके अतिरिक्त 'सेवा' भी है।

दुइ गुण—शान्तका 'श्रीकृष्णनिष्ठा' गुण और उससे अतिरिक्त 'सेवा' गुण।

शान्तेर गुण, दास्येर सेवन-सख्ये दुइ रय।
दास्ये सम्भ्रम-गौरव-सेवा, सख्ये विश्वासमय॥

है साथ दास्यकी सेवाके रस सख्य सदा गुण शान्तात्मक।
सेवा, गौरव, संकोच दास्यमें, सख्य समत्व-प्रतीति-परक ॥१८१॥

यह व्रजके सख्यका वर्णन है। सख्यरसमें शान्तके 'कृष्णनिष्ठा' और 'कृष्ण-बिना तृष्णात्याग' एवं दास्यकी 'सेवा'—इन दोनों रसोंके गुण हैं, और इनके अतिरिक्त 'सम्भ्रम एवं गौरव-बुद्धिहीनता' भी है। सख्यमें 'सम्भ्रम—संकोच' एवं गौरवबुद्धि' नहीं होनेके कारण दास्यकी सेवामें और सख्यकी सेवामें भिन्नता है।

दास्यकी सेवा और सख्यकी सेवाका पार्थक्य दिखाते हैं। **दास्ये सम्भ्रम-गौरव**—दास्यकी सेवामें गौरव-बुद्धि होनेके कारण संकोच है ; कोई-सा एक फल खाते-खाते अत्यन्त स्वादिष्ट लगनेपर, कृष्ण भी ऐसा फल आस्वादन करें—ऐसी वासना जाग्रत् हो सकती है ; किंतु कृष्णको प्रभु माननेके कारण गौरव-बुद्धि-जनित संकोचवश वह भक्त उच्छिष्ट फल कृष्णको नहीं दे सकता। **सख्ये विश्वासमय**—सख्यमें दास्यकी अपेक्षा ममता अधिक है, ममता अधिक होनेके कारण दास्यका संकोच सख्यमें नहीं है। सख्यकी सेवा केवल प्रीतिमय है, इसमें गौरव-बुद्धि नहीं है। श्रीकृष्णको उनके सखा अपने समान ही मानते हैं। इसीसे स्वादिष्ट होनेपर उच्छिष्ट फल भी उनको खानेके लिये देते हैं, कृष्णके कंधेपर भी चढ़ते हैं। **विश्वास**—विश्रम्भ ; प्रीतिकी अधिकतावश परस्पर एक दूसरेके प्रति किसी भी प्रकारका संकोच नहीं रहनेके कारण अभेद माननेको—परस्परकी जाति, कुल, वसन, भूषण, शक्ति, सामर्थ्य, मान, सम्मान आदिको समान माननेको विश्रम्भ कहते हैं।

सम्भ्रम—गौरवबुद्धि-जनित संकोच या चित्तकम्प।

विश्वासमय—प्रीतिकी अधिकता-जनित संकोचहीनताके कारण परस्परकी पार्थक्य-हीनता-ज्ञानमयी बुद्धि।

कान्धे चढ़े, कान्धे चढ़ाय, करे क्रीड़ा रण।
कृष्ण सेवे, कृष्णे कराय आपन सेवन॥१८२॥

आपसमें करते क्रीड़ा-रण, बैठते-बिठाते कंधेपर।
श्रीकृष्ण स्वयं सेवा करते, ये भी उनकी सेवा-तत्पर॥

सख्यभावमें श्रीकृष्णके प्रति किसी भी प्रकारका संकोच न रहनेके कारण, श्रीकृष्णको जिस प्रकार सखा अपने कंधेपर चढ़ाते हैं, उसी तरह श्रीकृष्णके कंधेपर भी चढ़ते हैं ; स्वयं भी श्रीकृष्णकी सेवा करते हैं, और उनके द्वारा अपनी सेवा करवाते भी हैं। समानभावसे वे लोग श्रीकृष्णके साथ क्रीड़ा तो करते ही हैं, **क्रीड़ारण**—क्रीड़ारूप-रण, क्रीड़ायुद्ध, दो वृषभ जैसे सिरसे सिर भिड़ाकर

युद्ध करते हैं, व्रजके गोप भी शरीरपर कम्बल ओढ़कर, वृषभका वेश सजकर, सिरसे सिर लगाकर, कृत्रिम युद्ध भी करते थे—यह भी एक प्रकारका खेल है। व्रजके सखाओंके लिये ही कृष्णके साथ इस प्रकारका व्यवहार सम्भव है।

विश्रम्भप्रधान सख्य—गौरव-सम्भ्रम-हीन।
अतएव सख्यरसेर तिन गुण चिन ॥१८३॥

विश्रम्भ-प्रधान सदैव सख्य, गौरव-सम्भ्रमसे है विहीन।
पहचान सख्यरसकी विशेषताएँ इस कारण यही तीन॥

विश्रम्भ—विश्वास, पूर्ववर्ती १८१ वें पयारकी टीका देखिये।

विश्रम्भप्रधान सख्य—सख्य-भावमें विश्रम्भमय भाव अर्थात् सब प्रकारकी संकोचहीनताका एवं सब प्रकारसे परस्परकी समानताका ज्ञान ही प्रधानता रखता है। 'तुमि कोन् बड़ लोक, तुमि आमि सम—तुम कौन बड़े आदमी हो ? हम-तुम बराबर हैं (चै० च० आ० ४।२२)।'—इस प्रकारका भाव ही सख्यका प्राण है। स्मरण रखना होगा कि यह भाव श्रीकृष्णके प्रति प्रीतिकी अधिकताके कारण है—ताच्छील्यवश—अवज्ञाके कारण नहीं। **गौरव-सम्भ्रमहीन**—सख्यभाव विश्रम्भ-प्रधान होनेके कारण उसमें गौरवबुद्धि नहीं होती, अतः किसी प्रकारका संकोच भी नहीं होता।

सम्भ्रम—गौरवबुद्धि-जनित संकोच या चित्तकम्प। **अतएव**—सख्यमें शान्तके और दास्यके गुण एवं उनके अतिरिक्त गौरव-सम्भ्रमहीनता होनेके कारण **तिन गुण चिन**—शान्तकी 'कृष्णनिष्ठा-तृष्णात्याग', दास्यकी 'सेवा' एवं सख्यकी 'गौरव-सम्भ्रमहीनता'—ये तीन गुण सख्यरसके चिह्न या लक्षण हैं। **चिन**—चिह्न।

ममता अधिक कृष्णे आत्मसम-ज्ञान।
अतएव सख्यरसे वश भगवान ॥१८४॥

ममता माधवमें होती अति, समताका रहता ज्ञान सतत।
अतएव सख्य नामक रसमें भगवान् भक्तगणके वशगत॥

इस ग्रन्थकी आदिलीलाके चतुर्थ परिच्छेदके बीसवें पयारमें श्रीकृष्णने बतलाया है कि प्रीतिकी अधिकताके कारण जो भक्त मुझे अपनी अपेक्षा हीन मानता है, अथवा अधिक-से-अधिक अपने समान मानता है, किंतु कभी भी मुझे अपनी अपेक्षा बड़ा नहीं मानता, अर्थात् प्रेमके जिस परिमाणमें बढ़ जानेपर, 'श्रीकृष्ण मेरी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं'—यह भाव दूर हो जाता है, उसी परिमाणमें जिनको प्रेम प्राप्त हो चुका है—मैं सर्वभावसे उनके प्रेमके वशमें हो जाता हूँ। सख्यभावके भक्त भी श्रीकृष्णमें ममताकी अधिकताके कारण—श्रीकृष्णमें अत्यन्त ममता और अपने-पनका भाव होनेके कारण—उनको अपने समान मानते हैं—अपनी अपेक्षा कभी भी बड़ा या श्रेष्ठ नहीं मानते। इसीलिये श्रीकृष्ण सख्य-रसके वशमें रहते हैं।

अब व्रजके शुद्ध वात्सल्यका वर्णन करते हैं।

वात्सल्य-रसका स्वरूप

वात्सल्ये शान्तेर गुण, दास्येर सेवन।
सेइ-सेइ सेवनेर इहाँ नाम पालन॥१८५॥

वात्सल्य-भावमें रहता गुण शान्तोचित, दास्योचित सेवन।
उस-उस सेवाका नाम यहाँ हो जाता है लालन-पालन॥

वात्सल्ये इत्यादि—वात्सल्यमें शान्त, दास्य और सख्यके गुण तो हैं ही, इनके अतिरिक्त है श्रीकृष्णका लाल्य-पाल्य-ज्ञान और अपने लिये श्रीकृष्णका लालक-पालक-ज्ञान भी। श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य किसीका भी मनमें स्थान न पाना ही दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावकी कृष्णनिष्ठाके लक्षण हैं। श्रीकृष्णके प्रीति-विधानकी चेष्टा ही, (अथवा वात्सल्यभावमें श्रीकृष्णके मङ्गल-विधान और प्रीतिविधानकी चेष्टा ही) दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावोंकी सेवाके लक्षण हैं।

पालन— वात्सल्य भावकी सेवाका नाम पालन है। ममताकी अधिकताके कारण वात्सल्य-रसका भक्त अपनी अपेक्षा श्रीकृष्णको हीन मानता है ; अपनेको पालक और श्रीकृष्णको पालनीय मानता है। इस प्रकार श्रीकृष्णका लालन-पालन ही वात्सल्यकी सेवा है।

सख्येर गुण असंकोच अगौरव सार।
ममता-आधिक्ये ताड़न-भर्त्सन व्यवहार॥

वात्सल्य भावमें सख्योचित गुण—असंकोच, गौरवाज्ञान।
ताड़न-भर्त्सन भी चलता है ममताके होनेसे प्रधान॥१८६॥

आपनाके 'पालक' ज्ञान, कृष्णे 'पाल्य' ज्ञान।
चारि रसेर गुणे वात्सल्य अमृत-समान॥

अपनेमें पालक-ज्ञान, कृष्णके प्रति रहता है पाल्य-ज्ञान।
चारों रसके गुणसे भूषित वात्सल्य सरस अमृत-समान॥१८७॥

अगौरव—गौरव-बुद्धि-शून्यता। **ताड़न**—दण्ड देना आदि ; यशोदा माताने श्रीकृष्णका बन्धनतक किया था। **भर्त्सन**—तिरस्कार ; मृद्-भक्षणके लिये यशोदा माताने कृष्णका तिरस्कार किया था।

श्रीकृष्णके प्रति ममता-बुद्धिकी अत्यन्त अधिकताके कारण नन्द-यशोदादि वात्सल्य भावके भक्तोंकी कृष्ण-रति श्रीकृष्णके प्रति अनुग्रहमयी है। इसीसे वे श्रीकृष्णको अपना लाल्य मानते हैं और अपनेको उनका लालक। वे सोचते हैं कि उनके बिना श्रीकृष्णका किसी प्रकारसे भी काम नहीं चल सकता—श्रीकृष्ण अबोध शिशु है, अपना भला-बुरा कुछ भी नहीं समझता, इसीलिये उनको ही श्रीकृष्णके भले-बुरेकी ओर सर्वदा दृष्टि रखनी पड़ती है। श्रीकृष्णका कोई भी अन्याय्य कार्य देखनेपर वे श्रीकृष्णका ताड़न-भर्त्सनतक भी करते हैं।

चारि रसेर गुणे—शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य—इन चार रसोंके गुणमें— शान्त, दास्य और सख्यके गुण एवं वात्सल्यके विशेष गुण अनुग्रहमय भाव, **अमृत-समान**—परम आस्वाद्य हैं ।

से अमृतानन्दे भक्तसह डुबेन आपने ।
'कृष्ण भक्तवश' गुण कहे ऐश्वर्य्यज्ञानी गणे ॥

उस सुधानन्दमें भक्तसहित भगवान स्वयं डूबे रहते ।
'श्रीकृष्ण भक्त-जनके वशमें' ऐश्वर्य-ज्ञानवाले कहते ॥१८८॥

से अमृतानन्दे—वात्सल्य-रसरूप अमृतपानके आनन्दमें । **आपने**—श्रीकृष्ण स्वयं । **ऐश्वर्य्यज्ञानीगणे**—ऐश्वर्यज्ञान रखनेवाले सब भक्त ।

प्रश्न उठ सकता है कि श्रीकृष्ण हैं सर्वेश्वर, समस्त ब्रह्माण्डके पालनकर्ता; उनके प्रति, भला, लाल्यभाव या पाल्यभाव किस प्रकार सम्भव है ? वे यदि स्वयं अपनेको नन्द-यशोदाके लाल्य अनुभव न करें, नन्द-यशोदा ही केवल उनको लाल्य मानें, तो श्रीकृष्णके लिये वात्सल्य-रसका आस्वादन सम्भव नहीं हो सकता । जिनको क्षुधा नहीं है, सुतरां भोजनकी आकांक्षा भी नहीं है, उनको खिलाकर जैसे खिलानेवालेको सुख नहीं मिलता, वैसे ही भोजन करनेवाले भी भोजन करके स्वयं सुख नहीं पाते । भोजनरसके आस्वादनके लिये परिवेशककी ओरसे जैसे आग्रह और प्रीति चाहिये, भोक्ताको भी वैसे ही क्षुधा एवं भोजनके प्रति आग्रह चाहिये । उसी प्रकार, सेवा-सुख-आस्वादनके लिये, सेवकमें जैसी प्रीति और आग्रह आवश्यक है, सेव्यमें भी वैसे ही सेवाकी प्रयोजनीयताका भान रहना जरूरी है । इसीसे श्रीकृष्ण यदि मन और प्राणसे (सर्वान्तःकरणसे) समझ सकें कि नन्द-यशोदाकी सेवाके बिना उनका काम नहीं चल सकता, वे सर्वथा उनके लाल्य हैं, तभी उनके लिये एवं नन्द-यशोदाके लिये भी वात्सल्य-रसका आस्वादन सम्भव है । यहाँ प्रश्न उठता है कि जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके पालनकर्ता हैं, उनके मनमें अपने लिये किस प्रकार पाल्यज्ञान उत्पन्न हो सकता है । ऐसे प्रश्नकी

आशंका करके ही कहते हैं—"श्रीकृष्ण भक्तके वशमें होते हैं*—भक्तके वशीभूत होनेके कारण उनका अपने लिये लाल्य-ज्ञान सम्भव है।" भक्तके प्रेमका ऐसा ही प्रभाव है कि भक्तके द्वारा सेवा न होनेपर उनका काम नहीं चलता—श्रीकृष्णके मनमें यह ज्ञान अपने आप ही उदित होता है। भक्तके प्रेमके प्रभावसे, भक्तकी सेवा-प्राप्तिके निमित्त श्रीकृष्णके चित्तमें एक बलवती क्षुधा उत्पन्न होती है। इसीसे वे सर्वेश्वर होकर भी अपनेको नन्द-यशोदाका लाल्य मानते हैं।

---

*प्रेम है स्वरूपशक्तिकी वृत्ति ; अतः तत्वतः यह श्रीकृष्णकी शक्ति है एवं शक्ति होनेसे शक्तिमान् श्रीकृष्णके अधीन है, श्रीकृष्णद्वारा ही नियन्त्रित होने योग्य है। ऐसी अवस्थामें प्रेम किस प्रकार श्रीकृष्णको वशीभूत कर सकता है ? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि श्रीकृष्ण अद्वयज्ञान-तत्व, सर्वशक्तिमान् एवं स्वतन्त्र भगवान्, परब्रह्म होनेपर भी 'रसो वै सः'—रसिक-शेखर हैं तथा प्रेमके या प्रेमके आश्रय-स्वरूप भक्तोंके वशीभूत न हों तो प्रेमरस-निर्यासका (प्रेमरसामृतका) आस्वादन नहीं किया जा सकता ; अतः वे तत्वतः प्रेमके या अपनी स्वरूपशक्तिके नियन्ता होनेपर भी प्रेमके या स्वरूपशक्तिके वशीभूत होते हैं। स्वरूपसे उनके ब्रह्म या भूमा होनेपर भी, उनको प्रेमरस-निर्यास-आस्वादन करानेके निमित्त, उनकी स्वरूपशक्तिकी वृत्तिविशेष जो प्रेमभक्ति है, वह प्रभावमें स्वयं उनकी अपेक्षा भी भूयसी—अधिक सम्पन्न है। इसीसे वे भक्तिके वशीभूत हैं। श्रुति भी यही बताती है—"**भक्तिवशः पुरुषः। भक्तिरेव भूयसी।**" शक्तिका और शक्तिकी वृत्तिविशेषका एकमात्र कर्तव्य होता है शक्तिमान्की सेवा। इस सेवाके लिये यदि शक्ति या शक्तिके वृत्तिविशेषको शक्तिमान्के ऊपर भी प्रभावका विस्तार करना पड़े तो शक्ति या शक्तिका वृत्तिविशेष वह भी करता है ; क्योंकि तभी सेवा सिद्ध हो सकती है। इसीलिये श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्तिका वृत्तिविशेष प्रेमभक्ति श्रीकृष्णसेवाके निमित्त—श्रीकृष्णको प्रेमरस-निर्यासका आस्वादन करानेके निमित्त—श्रीकृष्णको अपने वशमें कर लेती है। प्रेमभक्ति स्वरूपशक्तिकी वृत्ति होनेसे, इस प्रकारकी वश्यतासे श्रीकृष्णके स्वातन्त्र्यकी हानि नहीं हो सकती ; क्योंकि अपनी शक्तिकी वश्यतासे किसीकी भी स्वतन्त्रता नष्ट नहीं होती।

तथाहि हरिभक्तिविलासाधृते पद्मपुराणोक्तदामोदराष्टकस्तोत्रे (१६।९६)-

इतीदृक्स्वलीलाभिरानन्दकुण्डे
स्वघोषं निमज्जन्तमाख्यापयन्तम् ।
तदीयेशितज्ञेषु भक्तैर्जितत्वं
पुनः प्रेमतस्तं शतावृत्ति वन्दे ॥३६॥

अन्वय—**इतीदृक्स्वलीलाभिः** (इस प्रकारकी अपनी लीलाओंद्वारा) **स्वघोषं** (अपने व्रजवासी सब गोपोंको) **आनन्दकुण्डे** (आनन्द-कुण्डमें) **निमज्जन्तं** (जो निमग्न करते रहते हैं), (तथा) **तदीयेशितज्ञेषु** (अपने ऐश्वर्य-ज्ञान-परायण ज्ञानी-जनोंमें) **भक्तैः** (भक्तोंद्वारा) **जितत्वं** (अपनी पराभूतताका) **आख्यापयन्तम्** (जो ख्यापन करते रहते हैं)—**त्वां** (उन आपको) **प्रेमतः** (प्रेमपूर्वक) **शतावृत्ति** (शत-शतवार) **पुनः** (पुनः-पुनः) **वन्दे** (वन्दना करता हूँ) ।

अनुवाद— तुम इस प्रकारकी (दामोदरलीला और वैसी अन्य बालोचित) लीलाओंद्वारा— गोकुलवासी प्राणीमात्रको आनन्द-कुण्डमें निमग्न करते हो और अपने ऐश्वर्य-ज्ञान-परायण भक्तको अपनी भक्त-वश्यता बताते हो ; अतः मैं भक्ति-पूर्वक तुम्हारी बारंबार वन्दना करता हूँ ।

इतीदृक्स्वलीलाभिः— यहाँपर इतीदृक्—ऐसी लीला कहनेका तात्पर्य श्रीकृष्णकी बाल्यकालकी दामबन्धन-लीला— दामोदर-लीला और वैसी अन्यान्य लीलाओंकी कथासे है। इन सब लीलाओंद्वारा श्रीकृष्ण **स्वघोषं**—अपने घोषको—गोकुलवासी प्राणीमात्रको **आनन्दकुण्डे**—आनन्द-रस-पूर्ण गहरे जलाशयमें, आनन्दरसमें निमज्जित करते रहते हैं। **तदीयेशितज्ञेषु—तदीय—** श्रीकृष्णके **ईशित**—ऐश्वर्यको जो लोग जानते हैं, उन सब ज्ञानीजनोंको—ऐश्वर्य-ज्ञानी भक्तोंको, श्रीकृष्णकी **भक्तैः जितत्वं**—भक्तवश्यता श्रीकृष्ण स्वयं ही जना देते हैं ; ऐसे श्रीकृष्णको मैं बारंबार नमस्कार करता हूँ ।

यह श्लोक 'भक्तैर्जितत्वं' वाक्यके कारण १८८वें पयारके उत्तरार्द्धके प्रमाणमें दिया गया है। अब मधुररसका स्वरूप दो पयारोंमें वर्णन करते हैं—

मधुर-रसका स्वरूप

मधुररसे—कृष्णनिष्ठा, सेवा-अतिशय।
सख्येर असंकोच लालन ममताधिक हय।१८९।

रस मधुर कृष्ण-निष्ठा-शोभित, उसमें सेवाकी अतिशयता।
सख्योचित असंकोच, लालन-पालन, प्रभूत ममतामयता॥

कान्तभावे निजाङ्ग दिया करेन सेवन।
अतएव मधुर-रसे हय पञ्चगुण॥१९०॥

निज अङ्ग दानकर कान्तभावमें होता है सेवा-विलास।
अतएव मधुर रसके भीतर हैं पाँच गुणोंका संनिवास॥

मधुर-रसे इत्यादि—मधुररसमें शान्तकी कृष्ण-निष्ठा, दास्यकी सेवा, सख्यका असंकोच, वात्सल्यका लालन तो है ही ; इनके अतिरिक्त ममताधिक्यके कारण अपने अङ्गोंद्वारा सेवा भी है। मधुररसके ये ही पाँच गुण हैं।

सेवा-अतिशय— दास्य, सख्य और वात्सल्यकी सेवासे भी अधिकतर सेवा। **असंकोच**—संकोचहीनता। **लालन**—वात्सल्यका लालन। संतानके मङ्गलके लिये, उनको खिलाने-पहिनानेके लिये, अथवा उनके दैहिक सुख-स्वच्छन्दतादिके प्रति तीक्ष्ण दृष्टि रखना, सर्वदा सावधान रहना ही माताका प्रधान काम है, और यही लालन है, यही वात्सल्यका सार है। प्रेयसी भी इन सब विषयोंकी ओर उसी परिमाणमें तीक्ष्ण दृष्टि रखती है, अतएव वात्सल्यका लालन मधुरभावमें भी विद्यमान है। **ममताधिक**—मधुरभावमें अन्य सारे भावोंकी अपेक्षा ममता अधिक है। **कान्तभावे**—श्रीकृष्णको अपना कान्त और प्राणवल्लभ माननेपर। **निजाङ्ग दिया**—पत्नी जिस प्रकार अङ्गदान आदिद्वारा भी पतिका तुष्टि-

विधान (प्रीति-विधान) करती है, उसी प्रकार मधुर-भाववती व्रज-सुन्दरियाँ भी अङ्गदान* आदिद्वारा श्रीकृष्णका तुष्टिविधान करती हैं।

दास्य, सख्य और वात्सल्यभावमें सेवाकी एक सीमा है। दास, सखा और माता-पिता अपने-अपने सम्बन्धके अनुकूल ही सेवा कर सकते हैं। अपने-अपने सम्बन्धकी मर्यादाका उल्लङ्घन करके वे कभी भी सेवा नहीं कर सकते। दास्य-भक्तके लिये श्रीकृष्ण प्रभु हैं और भक्त उनका दास ; दासके लिये जितनी-सी सेवा सम्भव है, उतनी ही दास्यभक्त कर सकता है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता—खूब मीठा लगनेपर भी एवं श्रीकृष्णको खिलानेकी इच्छा रहनेपर भी दास्यभक्त श्रीकृष्णको उच्छिष्ट फल नहीं दे सकता। सख्यमें इस प्रकारका संकोच नहीं होता, इस वास्ते सखा उच्छिष्ट फल भी कृष्णको दे सकता है और देता भी है। किंतु माताकी तरह श्रीकृष्णका लालन-पालन-ताड़न-भर्त्सन कोई भी सखा नहीं कर सकता। शैशवमें और पौगण्डमें जो भाव लोगोंके मनमें जाग्रत् होते हैं, माताके निकट प्रायः उन सभीको प्रकट किया जा सकता है और माता भी प्रायः उन सारे भावोंके अनुरूप सेवाद्वारा पुत्रका प्रीतिविधान कर सकती हैं ; किंतु किशोर और यौवनमें मनमें जो भाव उदय होते हैं, उनमें-से बहुत-से माताके निकट प्रकाश नहीं किये जाते ; माता भी उन सबको जानना नहीं चाहती—जानना चाहनेपर अमर्यादा होगी और वात्सल्यरस भी क्षुण्ण हो जायेगा। कैशोरोचित और यौवनोचित विशेष-विशेष मनके भाव प्रकाश

---

*अपना अङ्ग-दान करनेके लिये व्रजदेवियोंकी स्वतःस्फूर्त्त इच्छा नहीं है। कृष्ण उनका अङ्ग-उपभोग करना चाहते हैं, इसलिये वे अङ्गदान करती रहती हैं। इसीसे श्रीराधाने कहा है—

मोर सुख सेवने, कृष्णेर सुख संगमे, अतएव देह देङ दान।
चै० च० अं० २०।५०॥

श्रीकृष्णका संगम-इच्छाका उद्देश्य, अपना सुख न होकर, व्रजदेवियोंका चित्त-विनोद है। **'मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधा क्रियाः'**—श्रीकृष्णकी यही उक्ति उसका प्रमाण है।

किये जा सकते हैं केवल प्रेयसीके निकट ; प्रेयसी भी इन सबको जाननेकी चेष्टा करती है और जानकर तदनुकूल सेवाद्वारा प्रियके प्रीतिविधानकी चेष्टा करती है। दास, सखा, पिता-माताके भाव भी प्रीतिके ऊपर ही प्रतिष्ठित हैं अवश्य ; किंतु प्रीतिके ऊपर प्रतिष्ठित होनेपर भी, यह प्रीति अबाध गतिसे विस्तृत नहीं हो सकती, उनका अपना सम्बन्ध बीचमें आकर बाधा उत्पन्न करता है। सम्बन्धके प्रतिकूल सेवाद्वारा श्रीकृष्णके प्रीतिविधानकी चेष्टा दास-सखा-माता-पिताके लिये सम्भव नहीं है, वैसी सेवाकी आवश्यकता भी उनके मनमें जाग्रत् नहीं होती। किंतु प्रेयसीकी सेवामें किसी भी प्रकारका विघ्नजनक भाव नहीं होता ; इसीसे उनकी प्रीति और प्रीतिमूलक सेवा अबाधगतिसे बढ़ सकती है, बढ़ती भी है। श्रीकृष्णके साथ कृष्ण-प्रेयसी व्रजसुन्दरियोंका भी एक सम्बन्ध है ; किंतु दास, सखा, माता-पितादिके सम्बन्धसे उनके सम्बन्धमें विशेषता यही है कि प्रेयसियोंका सम्बन्ध सेवाकी कोई भी सीमा नहीं बाँधता, किंतु दास और सखाओंकी सेवाकी एक सीमा है। सीमा-निर्देश पहले बताया जा चुका है—सम्बन्धकी मर्यादाका उल्लङ्घन करके दास और सखा आदि सेवा नहीं कर सकते ; उनका सम्बन्ध अपने स्वरूपगत धर्मके कारण ही प्रीतिमूलक सेवाकी अबाध विस्तृतिमें बाधा उत्पन्न करता है—यह बाधा ही होती है उनके सम्बन्धकी मर्यादा ; किंतु प्रेयसियोंके कान्ताभावकी सेवाके विस्तारमें इस प्रकारकी विघ्नजनक कोई भी मर्यादा नहीं है। श्रीकृष्ण उनके प्रिय हैं, वे श्रीकृष्णकी प्रेयसी हैं ; उनका काम ही है प्रियतम श्रीकृष्णका प्रीतिविधान—अन्य कोई भी काम उनको नहीं है। वे तो 'कृष्ण-वाञ्छा-पूर्त्तिरूप करे आराधने—श्रीकृष्ण-वाञ्छा-पूर्त्तिरूप आराधना करती हैं (चै० च० म० ४।७५)'। किंतु किस प्रकार श्रीकृष्णका प्रीतिविधान करना होगा—किस प्रकार उनकी वाञ्छा पूर्ण करनी होगी, इसके लिये कान्ता-भावके लिये कोई भी विधि-निषेध नहीं है ; केवल सेवा ही सेवा—जिस प्रकारसे भी हो—देह देकर हो, गेह देकर हो, स्वजन एवं आर्यपथ आदिका त्याग करके हो—किसी भी प्रकारसे श्रीकृष्णका प्रीतिविधान ही प्रेयसियोंका कर्त्तव्य है और श्रीकृष्णके साथ उनका जो सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध इस प्रकारकी सेवाके ऊपर ही प्रतिष्ठित है—इस प्रकारकी अबाध स्वच्छन्द सेवा ही उनके सम्बन्धकी

मर्यादाका तात्पर्य है। इसीसे मधुर-भावकी सेवा दास्य-सख्य आदिसे बहुत बड़ी है और इसीसे १८६वें पयारमें कहा गया है 'मधुर-रसे सेवा अतिशय'।

मधुर-रसे हय पञ्चगुण— शान्तकी श्रीकृष्ण-निष्ठा, दास्यकी सेवा, सख्यकी संकोचहीनता, वात्सल्यका लालन और मधुरकी निजाङ्गद्वारा सेवा—ये पाँच गुण मधुर-रसमें वर्तमान हैं।

आकाशादिर गुण जेन पर-पर-भूते।
एक-दुइ-तिन क्रमे पञ्च पृथिवीते ॥१९१॥

क्रमशः नभादिमें ज्यों पिछलेके गुण भी अगलेमें हैं लसते।
हैं एक और दो, तीन, चार, कुल पाँच धरामें गुण बसते ॥

आकाशादिर गुण इत्यादि—पूर्ववर्ती १७६वें पयारकी टीका देखिये।

एइमत मधुरे सब भाव समाहार।
अतएव स्वादाधिक्ये करे चमत्कार ॥१९२॥

है मधुर-भावमें इस प्रकारसे सब भावोंका समाहार।
वह अतः अधिक आस्वादनमयतासे लाता है चमत्कार ॥

सब भाव समाहार—शान्त आदि सब भावोंका समवाय या एकत्र योग।

श्रीरूपके प्रति भक्तिरसका विस्तार करने और वृन्दावन जानेका आदेश

एइ भक्तिरसेर कैल दिग्दर्शन।
इहार विस्तार मने करिह भावन ॥१९३॥

मैंने इस भाँति भक्ति-रसका है यहाँ कराया दिग्दर्शन ।
मनमें विचार करना इसका तुम करनेको विस्तृत वर्णन ॥

दिग्दर्शन—संक्षिप्त सूत्राकारमें वर्णन । **इहार विस्तार** इत्यादि—संक्षेपमें मैंने जो बताया, उसका विस्तृतरूपसे वर्णन करनेके लिये मन-ही-मन चिन्तन करना ।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीरूप गोस्वामीसे कहते हैं कि 'मैंने भक्तिरसका संक्षिप्तरूपसे सूत्राकार वर्णन किया है, तुम इसका विस्तार करनेके लिये इसका मन-ही-मन चिन्तन करना ।'

भाविते-भाविते कृष्ण स्फुरये अन्तरे ।
कृष्णकृपाय अज्ञ पाय रससिन्धुपारे ॥१९४॥

अनुचिन्तनसे श्रीकृष्ण स्फुरित सब कुछ करते उनके भीतर ।
कर पार अज्ञ भी लेता है श्रीकृष्ण-कृपासे रस-सागर ॥

भाविते-भाविते इत्यादि —चिन्तन करते रहनेसे श्रीकृष्ण कृपा करके सभी विषय तुम्हारे चित्तमें स्फुरित करेंगे । **स्फुरये**—स्फुरित करते हैं ।

कृष्णकृपाय इत्यादि—श्रीकृष्णकी कृपा होनेपर मूर्ख व्यक्ति भी रस सम्बन्धी सभी तत्वोंको जान सकता है । **रससिन्धु पारे**—रसके समुद्रका किनारा ।

एत बलि प्रभु ताँरे कैला आलिङ्गन ।
वाराणसी चलिवारे प्रभुर हैल मन ॥१९५॥

इतना कहकर प्रभुने उनको बाँहोंमें अपनी बाँध लिया ।
जानेका वाराणसी उन्होंने फिर मनमें संकल्प किया ॥

प्रभाते उठिया जबे करिल गमन ।
तबे ताँर पदे रूप कैल निवेदन ॥१९६॥

प्रस्थान लगे करने प्रभु जब प्रातःकी वेलामें उठकर।
तब किया रूपने विनय-निवेदन प्रभुके चरणोंपर सिर धर॥

आज्ञा हय आइसों मुञि श्रीचरण-सङ्गे।
सहिते ना पारि मुञि विरह-तरङ्गे॥

यदि आज्ञा हो तो श्रीचरणोंके साथ करूँ मैं भी प्रयाण।
आघात वियोग-तरङ्गोंका सह पाते मेरे नहीं प्राण॥१६७॥

प्रभु कहे—तोमार कर्त्तव्य आमार वचन।
निकट आसियाछ तुमि—जाह वृन्दावन॥

कर्त्तव्य तुम्हारा, प्रभु बोले, बस, मेरी आज्ञाका पालन।
आ गये निकट हो, अब जाओ तुम अतः यहाँसे वृन्दावन॥१६८॥

कर्त्तव्य आमार वचन—मैं जो कहता हूँ, वही करना तुम्हारे लिये उचित है। **निकटे आसियाछ**—वृन्दावनके निकट आ गये हो। प्रयागमें बैठकर प्रभु श्रीरूपको शिक्षा दे रहे थे, प्रयागसे नीलाचल जितनी दूर है उसकी तुलनामें वृन्दावन निकट है।

वृन्दावन हैते तुमि गौड़देश दिया।
आमारे मिलिबे नीलाचलेते आसिया॥

लौटने लगो वृन्दावनसे, तब गौड़देश होकर आना।
नीलाचलमें आ करके मेरे साथ पुनः तुम हो जाना॥१६९॥

प्रभुने श्रीरूपको कहा—"तुम अभी तो वृन्दावन ही जाओ, पीछे वृन्दावनसे बंगाल होकर नीलाचलमें मेरे पास आ जाना।

ताँरे आलिङ्गिया प्रभु नौकाते चड़िला ।
मूर्च्छित हइया तेहों ताहाञि पड़िला ॥२००॥

आलिङ्गन उनका करके प्रभु आरूढ़ हो गये नौकापर ।
गिर पड़े छिन्न तरुके समान श्रीरूप वहीं मूर्च्छित होकर ॥

ताँरे आलिङ्गिया—श्रीरूपको आलिङ्गन करके। **नौकाते चड़िला**—नौका पथसे— नाव द्वारा काशी पहुँचनेके लिये प्रभु नावपर चढ़े। **मुर्च्छित इत्यादि**—और श्रीरूप वहीं मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

दाक्षिणात्य विप्र ताँरे घरा लआ गेला ।
तबे दुइ भाइ वृन्दावनेते चलिला ॥२०१॥

तब उन्हें उठाकर दक्षिणात्य द्विज आये अपने घरपर ले ।
फिर रूप और अनुपम—दोनों भाई वृन्दावन ओर चले ॥

दाक्षिणात्य विप्र इत्यादि—प्रभुके विरहमें श्रीरूपके मूर्च्छित होनेपर दाक्षिणात्यवासी ब्राह्मण श्रीरूपको अपने घर ले गये। वृन्दावनसे प्रभु जब प्रयाग फिर आये थे तब ये दाक्षिणात्य विप्र ही प्रभुको निमन्त्रण देकर अपने घर ले आये थे (इसी परिच्छेदका ४३ वाँ पयार)। कुछ टीकाकारोंने लिखा है—श्रीवल्लभ भट्ट ही ये दाक्षिणात्य विप्र हैं, किंतु यह संगत नहीं है। श्रीवल्लभ भट्ट रहते थे गंङ्गाके उसपार आड़ैल ग्राममें (इसी परिच्छेदका ५७ वाँ पयार देखिये) ; ये तो केवल एक दिन प्रभुको निमन्त्रण करके ले गये थे। **दुइ भाइ**—श्रीरूप और श्रीअनुपम।